विद्यापति

(आलोचनात्मक निबन्ध)

लेखक

प्रोफेसर जनार्दन मिश्र, एम० ए०

साहित्याचार्य

बिहार नेशनल कालेज

पटना

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

ीय संस्करण संवत् २००६ मूल्य १॥)

समर्पण

—*—

कृष्णगढ़-सुल्तानगञ्ज के संस्कृत विद्यालय

और

हाई इङ्गलिश स्कूल के संस्थापक तथा सञ्चालक

बनैली-राजवंशावतंस,

विद्यानुरागी, कीर्तिमान्,

श्रीमान् कुमार

कृष्णानन्द सिंह बहादुर

के करकमलों में

श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप

समर्पित

—०—

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

भूमिका

भूमिका

विद्यापति हिन्दी के महाकवि हैं। कहा जाता है कि प्रतिदिन पूजा समाप्त करने के बाद ये पद रचना किया करते थे। इसी से इनकी रचना के सिद्धान्त का अनुमान किया जा सकता है।

विद्यापति के लेखों से ही प्रकट होता है कि ये भक्त और योगाभ्यासी थे। पति-पत्नी के रूप में ब्रह्म और जीव का वर्णन करना संस्कृत और हिन्दी के अनेक कवियों का अभीष्ट था। विद्यापति ने भी ऐसा ही किया। इसलिये इनकी रचना में राधा, पार्वती, राम, कृष्ण, शङ्कर आदि में कोई भेद नहीं पाया जाता। अनेक स्थलों पर बोध होता है कि विद्यापति ने इसी रूप में कुण्डलिनी के उत्थान और षड्चक्र भेद का भी वर्णन किया है। जीव और ब्रह्म अथवा शक्ति और शिव का वर्णन करना विद्यापति के लिये सर्वथा सम्भव है। जब तक उनकी कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं लिखी जाती तब तक हमें इतने पर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

अबतक हिन्दी-संसार में विद्यापति का पठन-पाठन बहुत कम हुआ है। इसलिये इनके विषय में अनेक प्रकार की असत् कल्पनाएँ और भ्रम फैले हुए हैं। मैंने विद्यापति को जैसा समझा है वैसा लिपिबद्ध करने की चेष्टा की है। उनके सिद्धान्तों की ओर ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से मुझे किसी विषय को यत्रतत्र दोहराना भी पड़ा है। आलोचना प्रत्यालोचना से इन सिद्धान्तों के और अधिक स्पष्ट होने की सम्भावना है।

इस समय हिन्दी शब्दों के लिङ्ग के विषय में गड़बड़ी फैली हुई है। कोष में शब्द का लिङ्ग कुछ है तो प्रयोग में कुछ और है। भिन्न-भिन्न लेखक एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न लिङ्गों में प्रयोग करते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि लेखक के एक ही लेख में एक ही शब्द का दोनों ही लिङ्गों में प्रयोग हुआ है। जब तक कोई प्रभावशाली संस्था इसका नियन्त्रण न करे तब तक इसकी यही दशा रहेगी। मैंने इस पुस्तक में गन्ध, आत्मा, पवन और वायु का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। विभक्तियों का प्रयोग, साधारणतः, संज्ञा शब्दों से अलग और सर्वनाम के साथ करना मुझे अभीष्ट है। आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र इसके विरुद्ध भी मुझे प्रयोग करना पड़ा है। किन्तु साधारणतया जहाँ इस नियम का विरोध दृष्टिगोचर हो उसे प्रेस की भूल समझना चाहिये।

इस पुस्तक के लिखने में पुस्तक भण्डार (लहेरियासराय और पटना) के अध्यक्ष श्रीयुत रामलोचन शरण जी से मुझे बड़ी सहायता मिली है। यदि आप कई बहुमूल्य और अप्रकाशित पुस्तकों का संग्रह नहीं कर देते तो यह पुस्तक इस रूप में नहीं निकल सकती।

इस पुस्तक के छपाने में श्रीयुत रामायण शरण शर्मा बी० ए०, श्रीयुत अवध नारायण बी० ए० और श्रीयुत रामेश्वर सिंह ने जो कठिन परिश्रम किया है इसके लिये इन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

—जनार्दन मिश्र

विद्यापति

१—प्रस्तावना

उत्तर बिहार में दरभंगा जिले का मधुबनी सब डिवीजन मध्य तिरहुत और मैथिल-संस्कृति का केन्द्र समझा जाता है। इससे थोड़ी दूर पश्चिम दामोदरपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ भगवती कालिका का एक मन्दिर है। उस प्रान्त का लोकप्रवाद है कि इसी कालिका देवी की पूजा महाकवि कालिदास ने की थी; जिनके वरदान से वे वर्तमान ख्याति प्राप्त कर सके। इसी जनप्रवाद के अनुसार कालिदास मैथिल थे। जो हो, उसी ग्राम से लगभग चार मील पश्चिम विस्फी नामक ग्राम है जहाँ विद्यापति ने जन्म ग्रहण किया था। ९२ वर्ष की दीर्घायु इन्होंने प्राप्त की थी। आरम्भ में, विद्यापति के सम्बन्ध में खोज करने वाले बील* इत्यादि विदेशी विद्वानों को इनकी इस लम्बी उमर पर विश्वास नहीं होता था। उनका कहना था कि साहित्यिक पुरुषों की आयु इतनी लम्बी नहीं होती

---

*इंडियन ऐन्टिक्वेरी १८७३, पुस्तक २, पृ० ३७, १८७; इ. ऐं १८७५ पुस्तक ४, पृ० २११.

है। परन्तु तुलसी, कबीर आदि बड़े-बड़े साहित्यिकों की लम्बी आयु से भी इसकी पुष्टि होती है।

विद्यापति की जन्म तिथि का निश्चय, अब तक नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति है कि—

सपन देखल हम सिव सिंह भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप॥
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
आब भेलहुँ हम आयु विहीन॥

बहुतों का ऐसा विश्वास है कि मृत बन्धुओं का स्वप्न में जिसे दर्शन होता है वह अल्पायु होता है। शिवसिंह की मृत्यु के बत्तीस वर्ष बाद विद्यापति ने ऐसा स्वप्न देखा था और यदि ऐसे प्रवाद पर विश्वास किया जाय तो शिवसिंह की मृत्यु के लगभग बत्तीस वर्ष पश्चात् विद्यापति का भी देहावसान हुआ।

निश्चित तिथियों का पता लगाना मैं प्रौढ़ ऐतिहासिकों और गणितज्ञों के लिये छोड़ देता हूँ। हमारी साहित्यिक आवश्यकताओं के लिये उनके काल का साधारण ज्ञान ही यथेष्ट है।

यह निर्विवाद है कि विद्यापति विक्रम संवत् १४६० में वर्तमान थे। कब इनका देहावसान हुआ यह कहना भी कठिन है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही मालूम है कि—

विद्यापतिक आयु अवसान।
कातिक धवल त्रयोदशि जान॥

इस जनश्रुति में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु इससे भी किसी निश्चित समय का पता नहीं लगता।

विद्यापति का जन्म एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न मैथिल ब्राह्मण के घर में हुआ था। यह वंश, विद्वत्ता और मर्यादा के लिये प्रसिद्ध था। इनके पूर्व पुरुष मिथिला के राजाओं के प्रियपात्र थे। उनमें से एक कर्मादित्य त्रिपाठी महामान्य थे। वर्णन रत्नाकर, धूर्तसमागम, और पञ्चसायक के प्रणेता प्रसिद्ध ज्योतिरीश्वर ठाकुर, सम्बन्ध में इनके पितामह के भाई होते थे। इनके पिता गणेश ठाकुर लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् थे। विद्यानुरागी और अच्छी स्थिति वाले सद्वंश में जन्म लेने के कारण, पठन-पाठन और शिष्ट समागम का सुअवसर इन्हें प्राप्त हुआ। अध्ययन समाप्त करने पर इन्होंने अध्यापन का कार्य आरम्भ किया। सदुपाध्याय कह कर इनकी प्रतिष्ठा थी। इससे मालूम होता है कि इनकी विद्वत्ता की लोगों पर धाक थी। पीछे ये महामहोपाध्याय हुए। शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने के चतुर्थ वर्ष में ये राजपण्डित बनाये गये। साधारण जनता इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करती थी। ये उनके पूज्य थे। कविकण्ठहार, कविशेखर, दशावधान, अभिनवजयदेव, पञ्चानन इत्यादि इनकी उपाधियाँ थीं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इनका कितना समादर था।

विद्यापति के सम्बन्ध में एक कथा कही जाती है। ये संपन्न पुरुष थे और एक अतिथिशाला खोल रखी थी। उसमें अभ्यागत अतिथियों को भोजन दिया जाता था। मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र, जिनके विषय में कहा जाता है कि "पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न च क्वापि", इनके सहपाठी थे। एक दिन भोजन करने के लिये वे भी अतिथिशाला में आये। किसी चिन्ता में निमग्न रहने तथा कृशकाय होने के कारण, और अतिथियों के साथ वे भोजन न कर सके। एक कोने में बैठे रह गये। संयोगवश विद्यापति अतिथिशाला देखने

आये। उनके सत्कार के लिये सभी अतिथि उठ कर खड़े हो गये। पूछने पर सबने कहा कि "भोजन से हम लोग तृप्त हैं", खोज करने पर उन्हें मालूम हुआ कि एक अतिथि ने भोजन नहीं किया है। उनकी ओर बढ़ कर उन्हें कृशकाय देख प्रेम का परिहास करते हुए बोले—

प्राघुणो घुणवत् कोणे सूक्ष्मत्वान्नोपलक्षितः।

अर्थात् घुन के कीड़े की तरह घूमते फिरते आप एक कोने में जा पड़े, और शरीर की सूक्ष्मता के कारण दिखाई न पड़े, इसलिये आप पीछे रह गये।

पक्षधर मिश्र ने उत्तर दिया—

नहि स्थूलधियः पुंसः सूक्ष्मे दृष्टिः प्रजायते।

अर्थात् जिनकी बुद्धि मोटी है उनकी दृष्टि सूक्ष्म की ओर नहीं जाती। विद्यापति इस प्रत्युत्तर को सुनकर चौंक पड़े और मित्र को पहचान कर गले-गले मिले।

२—विद्यापति का युग

प्राचीन ऋषियों ने विश्लेषणात्मक बुद्धि और मानसिक एकाग्रता की शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। जिस समय कर्मकाण्ड की प्रधानता इन के चित्त में घुसी उस समय गोमेध, अश्वमेध, नरमेध, अग्निष्टोम इत्यादि अनेक यज्ञों की सृष्टि हुई, जिनका साक्षी वैदिक साहित्य है। उस ओर से जब वैराग्य हुआ तो ज्ञानकाण्ड की उत्पत्ति हुई। झोंक में दर्शनशास्त्र को इतनी उच्चकोटि तक पहुँचाकर छोड़ा कि संसार की प्रबल से प्रबल मानसिक शक्ति श्रद्धा से नत मस्तक हो आज इनका चरण चूम रही है और न मालूम कब तक चूमती रहेगी। भक्तिकाण्ड में भी उनकी यही दशा रही। जब भक्ति की ओर झुके तो इसके प्रत्येक मार्ग की पूरी-पूरी छान बीन की और जितने प्रकार से युक्तिसंगत भक्ति हो सकती है सब का सिद्धान्त निरूपण कर अपने जीवन में उनका सन्निवेश किया।

भक्ति का कोई निश्चित मार्ग वा स्वरूप नहीं है। जिस भावना से वा जिस रीति से हृदय में भावोद्रेक हो वही इस के लिये कल्याणकर सिद्ध होती है। परब्रह्म परमात्मा, माता-पिता, सखा-बन्धु, स्त्री-पुरुष आदि जिस रूप में पूजा जाय, उसी रूप में वह भक्त को प्राप्त होता है। इस विषय में इस का मूल सिद्धान्त है कि-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

ऋषियों ने ईश्वर को "माँ" समझ कर दुर्गा के रूप में पूजा. पिता समझ कर शिव और वासुदेव के रूप में भजा, स्वामी के रूप में राम की और सखा तथा सन्तान के रूप में कृष्ण की पूजा की। जिस समय विद्यापति उत्पन्न हुए उस समय वैष्णवमत का प्रचार दक्षिणापथ में ही नहीं, आर्यावर्त में भी बड़े जोरों से हो रहा था। भक्ति का स्वरूप एक विशेष मार्ग ग्रहण कर अग्रसर हो रहा था। यह स्वरूप जीवात्मा को गोपी, राधा को स्त्री, और परमात्मा को पुरुष वा पति समझ कर भजन करने का आदेश करता था। जीवात्मा की कल्पना प्रेमिका से, परमात्मा की प्रेमी से और इन्हें मिलाने वाले मार्ग-दर्शक सद्गुरु की दूती से की जाती थी।

भक्ति के इस स्वरूप का बीज सांख्य-सिद्धान्त से उत्पन्न हुआ मालूम पड़ता है। दर्शनशास्त्र के सभी सिद्धान्तों में सांख्य-सिद्धान्त प्राचीन समझा जाता है। इस में सृष्टि के उपादान. प्रकृति और पुरुष कहे गये हैं। प्रकृति शब्द के स्त्रीवाची होने के कारण स्वभावतः ऐसा भ्रम होता है कि जिस प्रकार स्त्रीत्व और पुरुषत्व के सम्पर्क से संसार की सृष्टि होती है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के योग से "व्यक्त" का विकाश होता है। किन्तु ऐसी भावना भ्रम से उत्पन्न होती है। सांख्य शास्त्र में ही प्रकृति के चार नाम हैं, प्रकृति. महत्, अव्यक्त और प्रधान। यदि स्त्रीवाची 'प्रकृति' शब्द, को छोड़ कर और नामों का पुरुष के साथ व्यवहार किया जाय तो ऐसा भ्रम उत्पन्न नहीं होता। जो हो, अपने को स्त्री मानकर परमात्मा को पति रूप में भजने की भावना का बीज, प्रकृति और पुरुष सम्बन्ध वाले भ्रम में ही दृष्टिगोचर होता है। पीछे इसी भावना ने विशाल रूप धारण किया, जिसका पूर्ण विकसित रूप श्रीमद्भागवत में पाया जाता है। इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण परमात्मा माने गए हैं और

गोपियाँ स्त्री रूप में आदर्श भक्त मानी गई हैं। ये असंख्य जीवात्माओं के प्रतिरूप हैं।

भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध की कथाएँ श्रीमद्भागवत में पढ़ कर साधारण पाठकों के हृदय में भ्रम होता है कि ऐतिहासिक पुरुष कृष्ण का यही यथार्थ स्वरूप है कि वे लम्पट थे, चरित्रहीन थे, और दूसरे की स्त्रियों को फुसलाकर व्यभिचार किया करते थे। वे यह कभी नहीं सोचते कि भक्तों ने तुलसीदास के राम की तरह श्रीकृष्ण को परमात्मा मानकर अपने कल्याण के लिये उनके इस काल्पनिक स्वरूप की सृष्टि की और उसका प्रचार किया। भारत के इतिहास के चन्द्रगुप्त और शिवाजी की तरह अद्भुत क्षमताशाली ऐतिहासिक महापुरुष कृष्ण, कवि और भक्तों की असंयत कल्पना के अनाचार के कारण चित्र-विचित्र रूप में जनता के सामने उपस्थित होने लगे। इसलिये भगवान् के सम्बन्ध में जो भ्रम फैल गया है उसे दूर करने के लिये भगवान् कृष्ण के जीवन पर एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

महाभारत में भगवान् कृष्ण के जीवन की चर्चा अनेक बार की गई है, किन्तु राधा का नाम कहीं नहीं आया है। महाभारत का परिशिष्ट हरिवंशमहापुराण अट्ठारह हजार श्लोकों में लिखा गया है। उसमें केवल भगवान् कृष्ण का ही नहीं, उनके सारे वंश का विस्तृत वर्णन है। उसमें भी राधा की चर्चा कहीं नहीं हुई है। भास कवि-कृत बाल-चरित एक नाटक है, जिसमें भगवान् कृष्ण के बाल्यकाल की कथा नाटक के रूप में लिखी गई है। उसमें भी राधा की चर्चा कहीं नहीं है। विष्णुपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मपुराण में भी प्रसंगवशात् भगवान् की चरित्र-चर्चा की गई है पर वहाँ भी राधा की चर्चा

नहीं है। श्रीमद्भागवत कृष्ण-कथा का आधार-स्तम्भ समझा जाता है। उसमें, राधा का नाम नहीं आता। यह ब्रह्मवैवर्त पुराण है जिसमें पहले-पहल कृष्ण के साथ सम्बद्ध होकर राधा का नाम आता है। ब्रह्म, विष्णु और वायुपुराण में गोपियों की चर्चा बहुत ही साधारण रीति से की गई है। बाद के भक्त कवियों की रचनाओं में इनका जैसा स्वरूप है उसका आंशिक रूप भी इन पुराणों में देखने को नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि साहित्य में राधा और गोपियों का भगवान् कृष्ण के साथ जो सम्बन्ध देखते हैं वह भक्त और कवियों की कल्पना से प्रसूत और ऐतिहासिकता-विहीन है।

जिस समय विद्यापति अवतीर्ण हुए थे उस समय भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणोक्त कृष्ण-भक्ति वा राधाकृष्ण-भक्ति का प्रचार हो चुका था। जयदेव के गीत-गोविन्द की रचना हो चुकी थी। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में ही कवि ने लिखा है :

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

इसका भावार्थ यह है कि यदि विलासकला के द्वारा हरि-स्मरण करना हो तो जयदेव की सरस्वती अर्थात् गीतगोविन्द से यह प्रयोजन सिद्ध होगा। पूजा के समय वैष्णव गीत-गोविन्द के पद कीर्तन की तरह गाया करते थे। सारांश यह कि स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को मान कर भक्ति करने वाले मार्ग का प्रचार हो चुका था। उस युग में वैष्णव मत के प्रबल प्रचार ने इस मत को और भी उत्तेजना दी।

उस समय भक्ति के इस मार्ग के व्यापक प्रचार का एक और कारण हुआ। मुसलमानों के भारत-विजय के साथ-साथ सूफी

सम्प्रदाय वाले मुसलमान दार्शनिक इस देश में आये। उन लोगों की भक्ति का भी यही स्वरूप था। वे भी स्त्री-पुरुष के रूप में परमात्मा की उपासना करते थे और उनकी भी सिद्धि का एकमात्र साधन प्रेम था। एक तो विजेताओं के दुर्गुण में भी लोगों की यों ही श्रद्धा हुआ करती है। उसमें भी, यदि उनके किसी गुण से विजेताओं की समता पाई जाय तो इनकी आत्मश्लाघा का कोई ठिकाना नहीं रहता। सूफियों और वैष्णवों की सिद्धान्त-समता के कारण कृष्ण-भक्ति का, अथवा यों कहिये कि प्रेमी और प्रेमिका के रूप में ईश-भक्ति का सारे भारत में खूब प्रचार हुआ। बाद को, इसको उत्तेजना देनेवाले, बंगाल में चैतन्यदेव, उत्तर भारत में वल्लाभचार्य और दक्षिण तथा महाराष्ट्र में नामदेव हुए। यह मार्ग सार्वजनीन और यह सिद्धान्त विश्वजनीन समझा जाने लगा।

३—विद्यापति का धर्म

भिन्न-भिन्न युग में, हिन्दू समाज में शैव, वैष्णव और शाक्त इन तीन मतों की प्रधानता रही। इन तीनों में से ही किसी एक को हिन्दू मानते आये हैं। तांत्रिक युग में शाक्तमत का कुछ अधिक प्रचार हुआ। शैव और वैष्णव की वर्तमान युग में प्रधानता है।

भारत के जिस प्रान्त में जिस मत के आचार्य उत्पन्न हुए, उस प्रान्त में उनके उद्योग से वही मत प्रधान हुआ। दक्षिण में शैव, उत्तर में वैष्णव, तथा बंगाल और मिथिला में शाक्त-मत की प्रधानता थी। किन्तु ऐसा समझना भूल है कि जहाँ जिस मत की प्रधानता थी, वहाँ केवल उसी देवता की पूजा होती थी। यही कारण था कि दक्षिण में वैष्णव, उत्तर में शैव और मिथिला तथा बंगाल में वैष्णव तथा शैव दोनों ही मत वाले सभी युगों में वर्तमान थे।

दर्शनशास्त्र के साथ भारत के धर्म का अथवा मतमतान्तरों का अद्भुत सम्बन्ध है। धर्म और दर्शन एक दूसरे के साथ इस तरह मिले हुए हैं कि ये अलग नहीं किये जा सकते। यह तिल-तंडुल सा नहीं, नीर-क्षीर का सम्मिश्रण हैं। जिस प्रकार क्षीर का आधार जल है उसी प्रकार हिंदू-धर्म के स्वरूप का आधार दार्शनिक सिद्धांत है।

दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म, निराकार, निर्गुण और चिन्मात्र है। वह गुण और माया का स्रष्टा है। दिक् और काल अनन्त और अप्रमेय मालूम पड़ते हैं। 'कहाँ से और कब से इनका आरम्भ हुआ और कहाँ और कब इनका अन्त होगा' इसकी कल्पना मात्र से ही मन के समान द्रुतगामी शक्ति भी थक जाती है। पर, ये भी उसी की सृष्टि है और उसी की कृपा-कटाक्ष पर इनका अस्तित्व है। इसकी विभूतियाँ मूर्त्त जगत में धन, विद्या आदि नाना रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन्हीं दार्शनिक सिद्धांतों का आश्रय ले कर पौराणिकों तथा कवियों ने ईश्वर के नाना रूप की कल्पना की है। पर उन रूपों का अन्तःस्थ सिद्धांत एक ही था। उसमें किसी प्रकार का विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रधानता है। किसी-किसी उपपुराण में दुर्गा को भी प्रधानता दी गई है। सरसरी तौर से, इन पर ही एक दृष्टि डाल लेने से हमारा प्रस्तुत उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

ब्रह्म की इच्छा से माया और गुणों के संयोग से ही किसी आकृति का आरम्भ होता है। सत्त्व, रज और तम में एक-एक गुण को प्रधान मान कर ब्रह्मा, विष्णु, और दुर्गा के रूप में ब्रह्म की कल्पना की गई है।*

*भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्।
आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः॥ ५०
प्रसीद सर्व सर्वात्मन् चराचरमयेश्वर।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभिः कल्पनाभिरुदीरितः॥ ५१
न यत्र नाथ विद्यन्ते नामजात्या दिकल्पनाः।
तद्ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानज॥ ५२

संसार में सब से पहले महाकाश की नीलिमा हमें दिखलाई पड़ती है। इसलिये विष्णु की आकृति 'गगन सदृशम्', 'मेघ-वर्णम्' इत्यादि कहा गया है। विष्णु शब्द का अर्थ है 'व्यापक'। सर्वव्यापक आकाश के द्वारा उसकी व्यापकता का अनुमान किया जाता है। असंख्य रूप से जगत का संहार करने वाला काल सहस्रमुख शेष है। सीमा-रहित दिशा का बोधक पृथ्वी है। संसार की दो बड़ी शक्तियाँ सरस्वती (ज्ञान) और लक्ष्मी (धन) इसकी गृह-देवियाँ हैं।

शङ्कर के स्वरूप में कल्पना करते समय आदि ब्रह्म को देवाधिदेव, महादेव, इत्यादि कहा गया है। इनकी मूर्ति का अनुमान करना कठिन है, तो भी कहा जा सकता है कि ये व्योम-केश हैं। आकाश की नीलिमा ही इनके बाल हैं। दृश्य जगत का सब से सुन्दर रत्न चन्द्रमा इनका शिरोभूषण है; इसलिये ये चंद्रशेखर हैं। इनकी शक्ति के सामने, भयङ्कर कालरूपी सर्प की कोई गणना ही नहीं है। इसलिये वह कभी जटा में खेलता है, कभी कलाई पर झूलता है और कभी यज्ञोपवीत बन जाता है। अनन्त-विस्तार वाला दिक भी इतना तुच्छ है कि वह अच्छी तरह इनकी कमर भी नहीं ढँक सकता। वह इनकी कमर की साधारण लंगोटी (अम्बर) मात्र है। इसलिये ये दिगम्बर हैं। सती पार्वती महाशक्ति माया हैं।

मातृरूप में भी ईश्वर के त्रिगुणात्मक रूपों की कल्पना की गई है। यही अनन्त-शक्ति-ब्रह्म का मातृमण्डल है। उनके विषय में कहा गया है कि—

न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः।
ततः कृष्णाच्युतानन्त विष्णु संज्ञाभिरोड्यते ॥५४

विष्णुपुराण अंश ५ अध्याय ५

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदन्ततम् ।

अर्थात् माता, नित्य, जन्म-मरण रहित हैं। संसार ही उनकी मूर्ति है। उन्होंने यह सृष्टि फैला रखी है। तम, रज और सत्त्व का आश्रय लेकर महाकाली, महालक्ष्मी, और महा-सरस्वती के रूप में उनका वर्णन किया गया है।

इन सिद्धान्तों का मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साकार के अनेक रोचक स्वरूप के रहते हुए भी सनातन-हिंदू-धर्म एकेश्वरवादी है, तथा निराकर और साकार को अभिन्न समझ कर दोनों की समान श्रद्धा से उपासना करता है। वैदिक और पौराणिक साहित्य के अध्ययन करने से इस सिद्धान्त के विषय में कोई भ्रम नहीं रह जाता।

विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। पठन-पाठन इनकी वृत्ति थी। शास्त्र-पुराणादि की चर्चा का प्रसङ्ग सर्वदा उपस्थित रहता था। इसलिये आर्य-सिद्धान्तों के इन गूढ़ रहस्यों से ये पूर्णतः परिचित थे। यही कारण है कि हठ धर्म ने इनके हृदय में स्थान न पाया था। हिन्दू देवी-देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण उनके किसी विशेष रूप की ओर उनका भेद भाव वा पक्षपात नहीं था। समान श्रद्धा से ये सब की उपासना करते थे। शङ्कर और विष्णु के अभिन्न स्वरूप का इन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

भल हरि भल हर भल तुअकाला।
खन पित वसन खनहिं बघछाला।
खन पञ्चानन खन भुज चारि।
खन शंकर खन देव मुरारि।

खन गोकुल भय चरवथि गाय।
खन भिखि मांगिय डमरु बजाय।
खन गोविन्द भय ली महादान।
खनहिं भसम धरु कान्ध बोकान।
एक शरीरे लेल दुई बास।
खन बैकुण्ठ खनहिं कैलास।
भनहिं विद्यापति विपरिति बानी।
ओ नारायन ओ सुलपानी।

उसी प्रकार मातृ रूप में ब्रह्म का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती।
एकानेक सहस को धारिणि अरिरंगा पुरनन्ती।
कजलरूप तुअकालिय कहिअउ उजल रूप तुअ बानी।
रवि मण्डल परचंडा कहिये गंगा कहिये पानी।
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये हर घर कहिये गौरी।
नारायण घर कमला कहिये के जान उतपति तोरी।

इन अवतरणों से विद्यापति के धर्म-भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है।

विद्यापति के कुछ आलोचकों ने उन्हें पञ्चदेवयाजी सिद्ध करने की चेष्टा की है। मैथिल-समाज की आन्तरिक अवस्था पर एक दृष्टि डालने से उनका यह भ्रम भी दूर हो जायगा।

प्राचीन काल से ही मिथिला संस्कृत पठन-पाठन का केन्द्र रही। इसलिये विशुद्ध वैदिक-धर्म का सच्चा स्वरूप यहाँ सर्वदा वर्तमान रहा। विद्वत्समाज रहने कारण वैदिक-धर्म के सम्बन्ध में उन्हें भ्रम नहीं होता था और न अपने पथ से लोगों क

भी हुए; किन्तु मिथिला और मैथिल समाज में उनका अस्तित्व नाम मात्र को भी नहीं है। किसी प्रान्त में घोर आन्दोलन के कारण, जब कभी कोई धार्मिक-भाव, छलकता हुआ इस समाज में आकर गिरा तो उसकी गति जल की रेखा के समान हुई। विद्यापति इस मैथिल मनोवृत्ति की प्रतिमूर्ति थे। देवताओं के सभी स्वरूप के लिये उनका हृदय-द्वार उन्मुक्त था।

४—विद्यापति की रचना और उसका प्रचार।

विद्यापति ने कीर्तिलता में लिखा है—

सक्कै वानी बुश्र श्रन भावे।
पाश्रो रस को मम्म न पावे।
देसिल बैना सब जन मिट्ठा।
तें तइसन जम्पौं श्रवहट्ठा।

आधुनिक भाषा में यही पद इस प्रकार लिखा जा सकता है—

संस्कृत वाणी बुध जन भावे।
प्राकृत रस को मर्म्म न ापवे।
देसी बैना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जल्पौं श्रवहट्ठा।

इसका अर्थ—"संस्कृत-वाणी बुद्धिमानों को अच्छी लगती है। प्राकृत में रस की सरसता नहीं है। देशी बोली सब को मीठी लगती है। इसलिये मैं अवहट्ठ भाषा में रचना करता हूँ।" इससे सिद्ध होता है कि अपभ्रंश का जो परिवर्तित

स्वरूप अवहट्ठ कहलाता था उसी भाषा में कवि ने कीर्तिलता की रचना की। इस देश भाषा में रचना करने का कारण वे यह बतलाते हैं कि मैं केवल विद्वानों के लिये नहीं लिख रहा हूँ; इसलिये संस्कृत में रचना न करूँगा। जनता की सेवा और मनोरंजन करने के लिये उत्सुक रहने के कारण प्राकृत-भाषा में भी लिखने से मेरा अभीष्ट सिद्ध न होगा, क्योंकि प्राकृत सब की समझ में नहीं आता। उनकी उक्ति से यह भी बोध होता है कि अपनी कवित्व शक्ति द्वारा वे जन समाज की सेवा करना चाहते थे।

अपनी परिमार्जित भाषा, लोक-प्रियता और विद्या-बुद्धि के बल पर इन्हें पूरा विश्वास था। मालूम होता है कि इनकी रचना का जनता खूब आदर कर रही थी और इससे उन्हें बहुत उत्साह मिल रहा था। अपनी रचना के विषय में ये कहते हैं—

बालचन्द विज्जावइ भासा।
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेश्वर हरसिर सोहइ।
इ निच्चय नाअर मन मोहइ।

साधारण भाषा में यही इस प्रकार लिखा जा सकता है—

बालचन्द्र विद्यापति भाषा।
दुहु नहि लागइ दुर्ज्जन हासा।
वह परमेश्वर हर सिर सोहै।
यह निश्चय नागर मन मोहै।

अर्थ है—"छोटे चाँद और विद्यापति की रचना पर दुर्जनों को भी हँसी नहीं आती। प्रथम की शोभा परमेश्वर शङ्कर के शिर पर होती है और द्वितीय शिष्टजनों का मन अवश्य ही

मोह लेती है।" इन पंक्तियों से अपनी रचना के विषय में कवि का आत्मविश्वास प्रकट होता है।

मिथिला में गीतों के लिखनेवाले बहुत से हुए और अब भी वर्तमान हैं। समाज ने सब का यथोचित आदर किया और अब भी कर रहा है। किन्तु जो आदर विद्यापति को मिला वह आदर पाने का सौभाग्य किसी कवि को न हुआ। इसका कारण कवि की सहृदयता, परिमार्जित प्रतिभा और मधुर रचना है। ये ही बातें ध्वनिकार के शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
ध्वन्यालोक १.४.

बाहर दिखाई पड़नेवाले शारीरिक अवयव सभी के एक से होते हैं, किन्तु लावण्य किसी-किसी शरीर में ही दिखलाई पड़ता है। महाकवियों की रचनाओं की भी यही गति है। कवित्त, सवैया, दोहे और पद तो सभी लिखते हैं, पर हृदय पर अधिकार करनेवाले भाव महाकवियों की रचना में ही पाये जाते हैं। यही एक कारण था जिसके प्रभाव से अनेक लेखकों के रहते भी, जनता इन पर लट्टू हो रही थी।

मिथिला के जनसाधारण में संगीत का अच्छा प्रचार है। गुणियों की बात अलग है। जो राग-रागिनी नहीं जानते वे भी श्रुति-सुखद गान कुछ न कुछ गाही लेते हैं। इस संगीत प्रियता के कारण गाँवों में भी संगीत मण्डलियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। पुरुष-समाज के इस विभाग में विद्यापति का प्रचार था ही। इनकी बड़ी विशेषता यह है कि स्त्री-समाज में भी इनके पदों का

उससे कहीं अधिक प्रचार था। मिथिला में यह चाल है कि प्रत्येक त्योहार, उत्सव, विवाह, उपनयन इत्यादि के अवसर पर स्त्रियाँ गीत गाया करती हैं। इन गीतों में विद्यापति की रचना की प्रचुरता देख कर इनकी लोकप्रियता और जनता के हृदय पर अधिकार का पता लगता है।

विद्यापति के पद मिथिला की सीमा के भीतर ही आबद्ध नहीं रहे। दक्षिण और पश्चिम बिहार में भी गवैये इनके पद गाया करते हैं। बिहार से अधिक बंगाल में विद्यापति का प्रचार हुआ। वहाँ इनका इतना अधिक प्रचार हुआ कि वहाँ के लोग इन्हें बंगाली ही नहीं बल्कि बंगभाषा का जन्मदाता और आदिकवि समझने लगे। जब यूरोपीय विद्वानों ने यहाँ की देश भाषा का अध्ययन और छान-बीन करना शुरू किया तो उन्हें बोध हुआ कि बंग-भाषा के आदि कवि की रचना की भाषा हिंदी की एक शाखा मात्र है। इसलिये उन लोगों ने कहना शुरू किया कि बंग-भाषा कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है। यह हिंदी की केवल एक शाखा है। मानधनी बंगाली विद्वानों को यह प्रवाद बहुत बुरा लगा। वे यह कथन सहने के लिये तैयार नहीं थे कि उनकी मातृभाषा एक स्वतंत्र भाषा नहीं है, वरन् एक दूसरी भाषा की शाखा है। इसलिये उन्होंने छान-बीन शुरू की और विद्यापति के विषय में सच्ची बातों का पता लगा कर १२८२ साल (फसली) के "बंगदर्शन" की चौथी पुस्तक में एक लेख प्रकाशित कराया, जिससे विद्यापति का सच्चा स्वरूप लोगों के सामने प्रकट हुआ और इनके बंगाली होने का भ्रम दूर हुआ।

बंगाल में इनकी रचनाओं के इतने अधिक प्रचार के अनेक कारण हैं।

बहुत प्राचीन काल से मिथिला और बंगाल का सम्बन्ध चला आता है। कालगति से मध्य युग में मिथिला भारतीय दर्शन का केन्द्र बन गई, और न्याय की तो यह विद्यापीठ ही समझी जाने लगी। बंगाल के युवक यहाँ आकर न्याय और अन्य दर्शनशास्त्रों का अध्ययन किया करते थे। इसलिये प्राचीन काल में इन दोनों का गुरु-शिष्य का प्रिय सम्बन्ध था।

बंगाल में नव्यन्याय के प्रवर्तक प्रसिद्ध रघुनन्दन भट्ट पत्त-धर मिश्र के समकालीन थे। मिथिला में न्याय अध्ययन करते समय विद्यापति का प्रभाव उन पर पड़ा होगा, और बंगाल में भी उन्होंने इसकी चर्चा अवश्य की होगी। रघुनन्दन की तरह असंख्य विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिये मिथिला आया करते थे। उनके द्वारा भी विद्यापति का यथेष्ट प्रचार बंगाल में हुआ होगा।

विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में निमग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्छा-सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसलिये बंगाल में विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।

धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर बंगालियों ने विद्या-पति का जो आदर किया उसी का परिणाम-स्वरूप एक और घटना घटी, जो, सौभाग्य से हो अथवा दुर्भाग्य से हो, सभी

लोकप्रिय कवियों के सम्बन्ध में हुआ करती है। बहुत से बंगाली वैष्णव विद्यापति की नकल कर रचनाएँ करने लगे और, 'लोगों के बीच उन पदों का आदर और प्रचार हो' इस विचार से स्वरचित पद के अन्त में विद्यापति का नाम जोड़ देने लगे। इससे विद्यापति के नाम का तो खूब प्रचार हुआ पर उन रचनाओं की भाषा विचित्र हो गई। आधी बँगला और आधी मैथिली-हिन्दी। इन्हीं रचनाओं को देख कर युरोपीय विद्वानों को भ्रम हुआ था कि बँगला हिन्दी भाषा की शाखा है। ऐसे कुछ पदों की जाँच करने से यह स्पष्ट हो जायगा। एक पद का नमूना यह है :—

आओल ऋतुपति राज बसन्त।
धाओल अलिकुल माधवि पन्थ।

द्वितीय पंक्ति के साथ गीतगोविन्द की यह पंक्ति पढ़िये—

माधविकापरिमलललिते

और

मधुरकनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।

उसी पद की और पक्तियाँ हैं—

दिनकर किरण भेल पौगंड।
केसर कुसुम धरल हेम दंड।

गीतगोविन्द :—

मदनमहीपति कनकदण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे।

अर्थ—सम्राट् कामदेव के स्वर्ण-निर्मित राजदण्ड के समान केसर के फूल खिल उठे हैं।

पद —

नृप आसन नव पीठल पात।
कंचन कुसुम छत्र धरु माथ।

इस वर्णन में वसन्त की राजा से उपमा देनेवाले विचार का उत्पत्तिस्थान गीतगोविन्द का उपयुक्त "मदनमहीपति" शब्द ही है।

पद—

मौलि रसाल कुसुम भेल ताय।
समुखहिं कोकिल पञ्चम गाय।

गीतगोविन्द—

किञ्च स्निग्धरसालमौलिमुकुलान्यालोक्य हर्षोदया-
दुन्मीलन्तिकुहूः कुहुरिति कलोत्तालाः पिकानां गिरः॥

अर्थ—सुन्दर रसाल मञ्जरी को देख कर हर्ष के मारे कोयल उच्च स्वर से मनोहर कुहू-कुहू शब्द कर रही है।

पद—

शिखिकुल नाचत अलिकुल जंत्र।
आन द्विजकुल पढु आसिस मंत्र।

भट्टि—अथ जगदुरनीचैराशिषस्तस्य विप्राः।

अर्थ—तब ब्राह्मणों ने (द्विजवर्ग ने) उच्च स्वर से आशीर्वाद दिये।

पद—

चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग।
मलय पवन सह भेल अनुराग।

गीत०—दरविदलितवल्लीमल्लिचञ्चत्परागप्रकटितपटवासैः।

अर्थ—अर्द्धस्फुटित मल्लिका के पराग से (वायुमण्डल में) मानो चँदवा-सा तन गया है। पद की द्वितीय पंक्ति में "कोमल मलय समीरे" का भाव है।

पद् –

कुन्द विल्लि तरु धरल निसान ।
पाटल तुण अशोक दल बान ।

गीतगोविन्द –

मिलितशिलीमुखपाटलपटल-

कृतस्मरतूणविलासे ।

अर्थ—पाटल-पुष्प-समूह में भौंरों के लगे रहने से वे पुष्प बाण से भरे हुए तूण से मालूम होते हैं ।

गीतगोविन्द –

दुरालोकस्तोकस्तबकनवकाशोकलतिका-
विकासः कासारोपवनपवनोऽपि व्यथयति ।

अर्थ – अशोकलता में नये-नये छोटे स्तवक विकसित हो गये हैं उनकी ओर ताकना भी कठिन है । जलाशय और उपवन भी दुःख देते हैं ।

पद् –

किंसुक लवंग लता एक सांग ।
हेरि सिसिर ऋतु आगे दिल भांग ।

अर्थ – पलास और लवंग की लतायें एक साथ मिल गई हैं । ऐसी तैयारी देख कर शिशिर ऋतु जी-जान लेकर भागा ।

गीत०—युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचि किंशुकजाले ।

अर्थ – (बसन्त काल में) युवाओं के हृदय को विदीर्ण करने के लिये कामदेव (नृसिंह) के (लाल-लाल) नाखून के समान किंशुक का समूह मालूम पड़ता है ।

गी०—ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।

अर्थ—लोनी लवंग लताओं के संसर्ग के कारण मलयाचल से आता हुआ (दक्षिण) पवन (बसन्त काल में) कोमल हो गया है।

बसन्त में किंशुक और लवंगलता का संसर्ग अनिश्चित है, पर इस पद में गीतगोविंद की एक पंक्ति की लवंगलता दूसरी के किंशुक के साथ अवश्य एक साथ मिल गई है।

'आगे दिल भांग' का यदि हिन्दी अथवा मैथिली के अनुसार अर्थ किया जाय तो अर्थ होगा "सामने भंग ला रखी"। इसी वाक्य-खण्ड का बङ्गला रूप है "आगे इ भङ्ग दिल", जिस का अर्थ होता है "पहले ही भागा"।

पद—

सैन्य साजल मधुमक्खिक कूल।
सिसिरक सबहुन करल निर्मूल।

यहाँ 'सबहुन' शब्द के प्रयोग से छन्द टूटता है।

पद—

उघरल सरसिज पाओल प्रान।
निज नव दले कर आसन दान।

द्वितीय पंक्ति में "दले" शब्द में बङ्गला की विभक्ति है और इससे छंद भी टूटता है।

पद—

नववृंदावन राज्ये बिहार।
विद्यापति कह समयक सार। *

* इंडियन एन्टीक्वेरी १८७३, पुस्तक-२, पृ० ३६।

गी०—वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलकूले ।

अर्थ—वृन्दावन के अरण्य-प्रान्त में यमुना जल के किनारे फैले हुए भूभाग पर ।

गी०—सरसवसन्तसमयवनवर्णनम् ।

जयदेव की रचना की नकल और बंग-भाषा के सम्मिश्रण से स्पष्ट है कि यह पद प्रक्षिप्त है, और किसी बंगाली वैष्णव की रचना है ।

दूसरा पद इस प्रकार है—

कत दिन घूचब थह हहकार ।
कत दिन घूचब गुरु दुख भार ।
कत दिन चांद कुमुद हब मेलि ।
कत दिन कमल भ्रमर करु केलि।
... ...
विद्यापति कह सुन वरनारि ।
भागब सब दुख मिलब मुरारि ।†

'घूचब' का अर्थ है 'नष्ट होना' । इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बँगला में होता है, हिन्दी में नहीं । 'हब' की भी वही दशा है । 'भागब' और "मिलब" क्रिया का अन्य पुरुष में व्यवहार करना अशुद्ध है ।

तीसरा पद इस प्रकार है—

नन्दक नन्दन कदम्बेरि तरु तरे—
धीरे धीरे मुरलि वलाव ।
समय संकेत निकेतन वइसल ।
बेरि बेरि बोलि पठाव ।

---

† विद्यापति । बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पृ० १४९, पद-संख्या ६९

सामरी तोरा लागि अनुखने विकल मुरारि। *

इस पद में 'कदम्बेरि'. 'तरु तरे' और 'अनुखने' बँगला के प्रयोग हैं हिन्दी के नहीं। इन पदों के प्रक्षिप्त होने में किसी प्रकार का संशय हृदय में नहीं रह जाता। इन पदों की संख्या इतनी अधिक है कि उन में से विद्यापति के यथार्थ पदों को चुन लेना कठिन है।

पूर्ववर्ती कवियों की संस्मृतियाँ परवर्ती कवियों में पाई जाती हैं, यह सच है; पर ऐसे अवसर पर भी कवि का अपना व्यक्तित्व वर्तमान रहता है, वह अपने को पूर्णतः कभी नहीं भूलता। दूसरे, जो कवि प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है वह दूसरे की अक्षरशः नकल करने में लज्जा अनुभव करता है। मैथिली और बँगला में समता है, पर, ऐसी समता नहीं है कि एक की विभक्तियों और वाक्यों का दूसरी भाषा में स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग हो। इसलिये बंगला अथवा और किसी भाषा का सम्मिश्रण देख कर भी किसी पद को विद्यापति की सच्ची रचना मानना कठिन है।

मिथिला और बंगाल में संस्कृति और आचार-विचार का भी सम्बन्ध है। इसलिये विद्यापति के पद और भाव उन्हें रुचिकर बोध होते थे। एक दूसरे के पड़ोसी होने के कारण जिसके पास जिस वस्तु की प्रचुरता रहती थी उसे ग्रहण करने में ये हिचकते न थे। गौराङ्ग महाप्रभु के समय, तथा उनके पूर्व भी, विद्यापति के समान परिमार्जित भाषा और भाववाला कोई बंगाल में न था। इसलिये विद्यापति के पदों को ग्रहण

---

* विद्यापति। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त, १३१६ साल का संस्करण, पृ० १, पद-संख्या १

गी०—वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलकूले ।

अर्थ—वृन्दावन के अरण्य-प्रान्त में यमुना जल के किनारे फैले हुए भूभाग पर ।

गी०—सरसवसन्तसमयवनवर्णनम् ।

जयदेव की रचना की नकल और बंग-भाषा के सम्मिश्रण से स्पष्ट है कि यह पद प्रक्षिप्त है, और किसी बंगाली वैष्णव की रचना है ।

दूसरा पद इस प्रकार है—

कत दिन घूचब थह हहकार ।
कत दिन घूचब गुरु दुख भार ।
कत दिन चांद कुमुद हब मेलि ।
कत दिन कमल भ्रमर करु केलि ।
... ...
विद्यापति कह सुन वरनारि ।
भागब सब दुख मिलब मुरारि ।†

'घूचब' का अर्थ है 'नष्ट होना' । इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बँगला में होता है, हिन्दी में नहीं । 'हब' की भी वही दशा है । 'भागब' और "मिलब" क्रिया का अन्य पुरुष में व्यवहार करना अशुद्ध है ।

तीसरा पद इस प्रकार है—

नन्दक नन्दन कदम्बेरि तरु तरे—
धीरे धीरे मुरलि वलाव ।
समय संकत निकेतन वइसल ।
बेरि वेरि बोलि पठाव ।

---

† विद्यापति । बाबू व्रजनन्दन सहाय, पृ० १४६, पद-संख्या ६६

सामरी तोरा लागि अनुखने विकल मुरारि। *

इस पद में 'कदम्बेरि', 'तरु तरे' और 'अनुखने' बँगला के प्रयोग हैं हिन्दी के नहीं। इन पदों के प्रक्षिप्त होने में किसी प्रकार का संशय हृदय में नहीं रह जाता। इन पदों की संख्या इतनी अधिक है कि उन में से विद्यापति के यथार्थ पदों को चुन लेना कठिन है।

पूर्ववर्ती कवियों की संस्मृतियाँ परवर्ती कवियों में पाई जाती हैं, यह सच है; पर ऐसे अवसर पर भी कवि का अपना व्यक्तित्व वर्तमान रहता है, वह अपने को पूर्णतः कभी नहीं भूलता। दूसरे, जो कवि प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है वह दूसरे की अक्षरशः नकल करने में लज्जा अनुभव करता है। मैथिली और बँगला में समता है, पर, ऐसी समता नहीं है कि एक की विभक्तियों और वाक्यों का दूसरी भाषा में स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग हो। इसलिये बंगला अथवा और किसी भाषा का सम्मिश्रण देख कर भी किसी पद को विद्यापति की सच्ची रचना मानना कठिन है।

मिथिला और बंगाल में संस्कृति और आचार-विचार का भी सम्बन्ध है। इसलिये विद्यापति के पद और भाव उन्हें रुचिकर बोध होते थे। एक दूसरे के पड़ोसी होने के कारण जिसके पास जिस वस्तु की प्रचुरता रहती थी उसे ग्रहण करने में ये हिचकते न थे। गौराङ्ग महाप्रभु के समय, तथा उनके पूर्व भी, विद्यापति के समान परिमार्जित भाषा और भाववाला कोई बंगाल में न था। इसलिये विद्यापति के पदों को ग्रहण

---

* विद्यापति। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त, १३१६ साल का संस्करण, पृ० १, पद-संख्या १

कर उन्होंने अपनी आन्तरिक पिपासा शान्त की। मिथिला देश बंगाल का गुरु था इसलिये न्याय की तरह वैष्णव पदावलियों को भी बंगाल ने निःशङ्क भाव से अपने आचार्य से ग्रहण किया।

५—विद्यापति की विचार-धारा

भाव-भेद से हिन्दी के कवि तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम वे हैं जो अपनी रचना में बड़े ही सावधान हैं। वे काव्य-जगत के सौन्दर्य और लोक मर्यादा की आवश्यकता को कभी नहीं भूलते। वे कविकुल के जीवन को परम पवित्र समझते हैं और अनुभव करते हैं कि जगत को कोई विशेष सन्देश देने के लिये इसकी प्राप्ति होती है। प्रबल प्रतिभावान होने के कारण अपने गुरु-दायित्व पर भी हस्तामलक के समान दृष्टि रखते हैं। इनकी रचना उचित सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। इस श्रेणी के प्रतिनिधि तुलसी हैं। दूसरे वे हैं जिनमें काव्य-प्रतिभा पूर्णरूप से वर्तमान है पर अपने जीवन के किसी विशेष उद्देश्य को उन्होंने स्थिर नहीं किया। भावधारा हृदय में उमड़ने लगी और उसे अक्षुण्ण गति से जगत को प्लावित करने के लिये छोड़ दिया। उनके हृदय में धारा बह रही है, उसके सौन्दर्य को देख कर ये मुग्ध हैं, बस, इसी में इन्हें सुख है। वे यह नहीं समझते कि इस धारा से किसी को लाभ पहुँचता है वा हानि। किसी का घर बह जाय वा किसी की वाटिका सींची जाय, इससे इन्हें क्या मतलब। अपनी मस्ती में उस ओर दृष्टिपात करने की न इन्हें फुर्सत है

और न इच्छा। ऐसे कवि बादल की तरह घूम-घूम कर जल-सिंचन करना, अथवा छायादान करना नहीं जानते। वे जानते हैं केवल प्रबल वेगवाली नदी की तरह बहना। ऐसे कवियों के प्रतिनिधि सूरदास हैं। तीसरी श्रेणी के कवियों का ध्यान कविता की वेश-भूषा पर ही अधिक है। इनकी रचना में स्वाभाविक सौन्दर्य्य कम पाया जाता है, किन्तु अलङ्कारों द्वारा ये उन्हें खूब सजाना जानते हैं। निर्जीव पत्थर का अद्भुत ताज बनाकर ये हमारे सामने खड़ा कर देते हैं पर हृदय की प्यास बुझाने वाले रसों का इसमें नितान्त अभाव है। इस श्रेणी के प्रतिनिधि विहारी हैं।

विद्यापति दूसरी श्रेणी के कवि हैं। इसलिये इनकी रचना में उत्तम पदों की प्रचुरता है। इनके पदों में कभी-कभी लोगों को अश्लीलता का आभास मिलता है। इसके कारण हैं। स्त्री-पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध देखने से उनके वर्णन में, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भाषा, भाव और अलंकारों के प्रयोग ही उपयुक्त हो सकते हैं।

जिस प्रकार ईश्वर की मातृरूप में कल्पना कर भक्त उनके साथ बालकों की सी चेष्टा करता है, कभी रूठता है, कभी मचलता है, और कभी उनकी गोद में बैठकर उनके आभूषणों के साथ खेलता है, उन्हें स्नेहमयी समझ सांसारिक विघ्न-बाधाओं पर हँसता है, उसी प्रकार पुरुष वा स्वामी के रूप में उनकी कल्पना कर भक्त स्वभावतः वैसी ही चेष्टायें करता है जैसी कोई पतिव्रता स्त्री अपने स्वामी के साथ करती है। अलङ्कारों द्वारा प्रगाढ़ भक्ति के प्रत्येक पहलू और गम्भीर अवस्था का वर्णन करने में स्त्री-पुरुष की जिन अवस्थाओं का

वर्णन किया जाय वह साधारण लौकिक दृष्टि से अवश्य अश्लील प्रतीत होगा। जिन पदों को लोग इस समय अश्लील कहते हैं उनका उस स्वरूप में वर्णन होना अनिवार्य था। भक्ति और अश्लीलता के सम्बन्ध में महामना ग्रियर्सन की उक्ति भी मनन करने योग्य है। वे कहते हैं:—

It now remains to consider the matter of Vidyapati's poems. They are nearly all Vaishnava hymns or bhajans and as such belong to a class well-known to students of modern Indian Literature. They can not be judged by European rules of taste, and must not be condemned too hastily as using the language of the brothel to describe the soul's yearnings after God. Now that the Aphorisms of Sandilya have been given in an English dress by Mr. Cowell, no one plead ignorance of the mysteries of the Indian doctrine of faith. "God is love" is alike the motto of the Eastern and of the Western Worlds, while the form of love proposed is essentially different. The people of a colder Western clime, have contented themselves with comparing the inaffable love of God to that of a father to his children, for the warmer climes of the tropics have led the seekers after truth to compare the love of worshipper for worshipped to that of the Supreme Mistress Radha for her Supreme Lord Kris-

hna. It is true that it is hard for a western mind to grasp the idea, but let us not therefore hastily condemn it; the glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu with as little of the baser part of human sensuosness as the Song of Soloman is by the Christian priest. *

अर्थात् "अब विद्यापति के काव्य पर विचार करना है। वे, लगभग सब के सब वैष्णव पद या भजन हैं, और ऐसी अवस्था में वे साहित्य के एक ऐसे अंग हैं जिनसे भारतीय साहित्य के सभी विद्यार्थी परिचित हैं। यूरोप की रुचि के अनुसार उन पर विचार नहीं किया जा सकता और जल्दीबाजी में उन पर यह दोषारोपण न करना चाहिये कि आत्मा और परमात्मा का प्रेम वर्णन करने के लिये शोहृदों की भाषा का प्रयोग किया गया है। कौवेल साहब के शाण्डिल्य सूत्र का अँगरेजी अनुवाद जब प्रकाशित हो गया है तब किसी को यह नहीं कहना चाहिये कि मैं भारतीय भक्ति के स्वरूप को नहीं जानता। "हरि प्रेम है" यह पाश्चात्य और पूर्व देश का समान सिद्धान्त है, पर इनके रूप तत्त्वतः विभिन्न हैं। पश्चिम के ठंढे देश के रहनेवाले ईश-प्रेम को पिता और पुत्र के अटूट प्रेम का रूप देकर ही सन्तुष्ट रहे, पर गर्म देश के सत्यान्वेपियों ने पूजक और पूज्य के सर्वश्रेष्ठ प्रेम को राधा और सर्वेश कृष्ण का रूप दिया। यह सच है कि पाश्चात्य चित्तवृत्ति के लिये इसका ग्रहण करना कठिन है, पर इसीलिये इन्हें झटपट बुरा बताना ठीक नहीं।

* J. R. A. S 1881. p. 36

विद्यापति के चमकते हुए पदों को भक्त हिन्दू, काम-वासना को जरा भी अनुभव नहीं करते हुए उसी प्रकार पढ़ते हैं जिस प्रकार सोलोमन के गीतों को क्रिस्तान पादरी पढ़ा करते हैं।" यदि ऐसी बात न रहती तो वैष्णवगण पूजा के समय विद्यापति के पदों और जयदेव के गीतगोविन्द का पाठ और इनके द्वारा कीर्तन कदापि नहीं करते।

विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बच कर निकलना, और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्बन करना इन्हें शायद अभीष्ट न था; अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसलिये स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें इन्होंने अपने को बहा दिया।

ईश-भक्ति सम्बन्धी पद रचना में ये पूरे रहस्यवादी थे, किन्तु निर्गुण रहस्यवाद और इनके रहस्यवाद में कुछ भेद है। जो निर्गुणवादी होते हैं वे जीवात्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप में देखते हैं किंतु वह स्वरूप किसी व्यक्ति-विशेष वा रूपविशेष का द्योतक नहीं होता। वह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भाव-सम्बन्ध का केवल वर्णनात्मक रूप होता है। विद्यापति, इस सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए भी रूप-विशेष और व्यक्ति-विशेष का अवलम्बन कर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को अनुभव करते थे। हिन्दू-शास्त्र के पंडित होने और उसमें श्रद्धा और विश्वास रखने के कारण इन्हें रहस्यवाद के सिद्धान्तों को, शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण अथवा जीवात्मा-परमात्मा की साधारण स्थिति के वर्णन द्वारा, अनुभव करने और कराने में किसी

प्रकार की शंका नहीं होती थी। राधा-कृष्ण के सम्बन्ध वाले इनके पद सर्वत्र प्रसिद्ध है। यहाँ मैं इनके रहस्यवाद के रूपों के उदाहरण देकर इनके सिद्धान्त को दिखलाने की चेष्टा करूँगा। शिव-पार्वती की उपमा देकर रचे हुए इनके पद का उदाहरण यह है—

कोन बन वसथि महेश ।
केओ नहि कहथि उदेस ॥
तपोबन बसथि महेस ।
भैरव करथि कलेस ॥
कान कुंडल हाथ गोल ।
ताहि बन पिआ मिठि बोल ॥
जाहि बन सिकिओ न डोल ।
ताही बन पिआ हसि बोल ॥
एकहि बचन बिच भेल ।
पहु उठि परदेस गेल ॥
भनहिं विद्यापति गाव ।
राधा कृष्ण बनाव ॥

यहाँ "महेश" का मतलब है सर्वेश, परब्रह्म।
कवि विकल होकर पूछता है :—

"महेश किस वन में रहते हैं? कोई इसका पता नहीं बताते।" बतावे कौन? यदि किसी को मालूम भी हो तब तो वह बतावे! 'परब्रह्म का निवास-स्थान कहाँ है' यह तत्त्वदर्शी द्रष्टा के सिवाय और कौन बता सकता है? भक्त का विह्वल हृदय प्रेम के आवेश में नम्रता और कोमलता से भरा रहत है। अपने को वह सम्पूर्ण जगत से हीन समझता है; इसलिये

किसी के सामने हाथ बाँधने में वह कुण्ठित नहीं होता।' भक्त-हृदय की यह विनम्रता और आदर का भाव आदर-सूचक क्रिया "कहथि" से टपक रहा है। 'केओ नहिं कहथि उदेस!' कोई भी इसका पता नहीं बताते!

जिस समय कवि ऐसा सोच रहा है हठात् इस प्रश्न का उत्तर अपने अन्तरात्मा से ही उसको मिलता है :—

तपोबन बसथि महेस।
भैरव करथि कलेस।

"महेश तपोवन में रहते हैं और भयंकर तप करते हैं।" परब्रह्म तपोमय है। तप उसका दूसरा स्वरूप है। जिस प्रकार जीवित प्राणी का स्वभाव शरीर का उत्ताप है उसी प्रकार तप परमामा का स्वभाव है। उसी सिद्धान्त का उल्लेख कालिदास ने कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में इस प्रकार किया है—

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेवमूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चचार॥

दक्षसुता सती का देहान्त हो चुका है। महादेव भ्रमण करते-करते हिमालय की अधित्यका में पहुँचे। देखा गंगा बह रही है। किनारे पर देवदारु का वन है। गंगाजल के फुहारे से शीतल वायु उस वन में बह रही है। निकट की चट्टानों से कस्तूरी का गन्ध आ रही है। उसी जगह एक सुन्दर भूभाग देख कर शंकर ने वहाँ ही अपना निवास-स्थान बनाया। "वहाँ अपनी आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति अग्नि को इन्धनों द्वारा प्रज्वलित कर' स्वयं ही तप के फलों के बनानेवाले शंकर 'केनाऽपिकामेन, किसी अज्ञात इच्छा से तप करने लगे।" तपोबल का वर्णन तुल-दास ने इस प्रकार किया है—

तप बल रचैं प्रपञ्च विधाता।
तप बल विष्णु सकल जगत्राता ॥
तप बल शम्भु करहिं संहारा।
तपबल शेष धरहिं महि भारा ॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी।
करहु जाय तप अस जिय जानी ॥

श्रुति भी कहती है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोध्यजायत।"

जाज्वल्यमान तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। सारांश यह कि महेश ही तप हैं। भयंकर तप में ही शकंर का निवास है।

कान कुंडल हाथ गोल।
ताहि बन पिआ मिठि बोल ॥

पिया के कान में योगियों का कुण्डल है और हाथ में भिक्षा-पात्र है। उसी तपोवन में प्रिय मधुर वार्तालाप किया करते हैं, कठोर तप के अवलम्बन से ही प्रिय का वार्तालाप सुनाई पड़ता है और समझ में आता है।

जाहि बन सिकियो न डोल।
ताहि बन पिआ हंसि बोल ॥

जिन वन में काश-पुष्प के समान हलका तृण भी नहीं हिलता, उसी वन में प्राणेश हँस-हँस कर बातें करते हैं। जिस घोर तपश्चर्या में समाधि की अवस्था में चित्तवृत्ति निर्वात दीपाशिखा की भाँति स्थिर हो जाती है उसी में प्राणों के प्राण से दिल खोल कर भेंट की जा सकती है। महिम्न की भाषा में यही भाव इस प्रकार वर्णित है :—

मनः प्रत्यक्चित्त सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्याहलादं ह्रद इवं निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५

अन्तर्गामी मन को चित्त के भीतर विधिपूर्वक धारण कर प्राणायामादि द्वारा वायु धारण करने वाले महायोगी गण जिसे देख कर, बार-बार रोमांचित होते हैं, ऐसा आह्लाद अनुभव करते हैं मानों अमृत के सागर में ऊब-डूब रहे हों, वह कोई अवर्णनीय तत्त्व आप ही हैं। उस परमतत्त्व को प्राप्त करने और समाधि की अवस्था में उस अमृत-समुद्र में अवगाहन करने का वर्णन, कवि बड़ी ही हृदयग्राही किन्तु सरल और मधुर भाषा में करता है।

जाहि बन सिकियों न डोल ।
ताहि बन पिआ हंसि बोल ॥

इसी भाव की एक पंक्ति दूसरे पद में इस प्रकार है—

जाहि बन केओ न डोल रे ।
ताहि बन पिआ हसि बोल रे ॥

जो हिन्दी-भाषी सज्जन बोल-चाल में 'सीकी' शब्द का व्यवहार करते हैं वे उपर्युक्त रचना की कोमलता को अनुभव कर सकेंगे।

एकहि बचन बिच भेल ।
पहु उठि परदेश गेल ॥

केवल एक बात का अन्तर पड़ा और प्रभु उठ कर परदेश चले गये। एक वचन का अन्तर हृदय में अहंकार का आ जाना

है। इसके हृदय में प्रवेश करते ही सारी भक्ति और प्रेम विलीन हो जाते हैं। पद की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

भनहि विद्यापति गाव।
राधा कृष्ण बनाव ॥

विद्यापति कहते हैं कि राधाकृष्ण की कृतियों का गान करो। यहाँ "राधाकृष्ण" शब्द का व्यवहार ध्यान देने योग्य है। महेश, कृष्ण, राधा अथवा तपस्विनी पार्वती में कवि को कोई भेद नहीं दीख पड़ता। महेश का वर्णन करते-करते वह राधाकृष्ण का भी सन्निवेश कर डालता है। ब्रह्मानन्द का वर्णन करते समय कवि भाव में ऐसा लवलीन हो जाता है कि महेश के साथ गौरी के नाम का सन्निवेश करना बिलकुल भूल जाता है। शायद उसे इसकी आवश्यकता नहीं मालूम होती।

शिव के सम्बन्ध में दूसरा पद इस प्रकार है—

हम सन हे सखि रुसल महेस।
गौरि विकल मन करथि उदेस ॥
तन आभरन बसन भेल भार।
नयन बहे जल निर्मल धार ॥
पुछै छी पंथुक जन हम तोहि।
एहि बाटे देखल बूढ़ बटोहि ॥
अंग में थिकैन्हि बिभूति सरूप।
(की कहब प्रभु केर सुन्दर रूप) ॥ *
कवि विद्यापति यह पद भान।
शिवजी प्रगट भेला गौरिक ध्यान ॥

* यह पंक्ति प्रक्षिप्त-सी मालूम होती है। किसी प्रति में मिलती है और किसी में नहीं।

गौरी (जीवात्मा) के मन में ऐसी शंका हुई है कि मुझसे कोई अपराध हो गया है इसलिये महेश मुझसे रुष्ट हो गये हैं। विकल होकर गौरी महेश की खोज में भटक रही हैं।

वियोग की उद्विग्नता के कारण

तन अभारन बसन भेल भार।
नयन बहे जल निर्मल धार॥

शरीर पर के आभूषण और वस्त्र भी भार-स्वरूप मालूम होते हैं। निर्मल जल की धारा आँखों से वह रही है। जब आत्म-जिज्ञासा आरम्भ होती है उस समय की विकलता को वही जान सकता है जो इसके बश में हो चुका है। स्त्री-पुत्र, धन-यौवन, शरीर, शृंगार कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। विशुद्ध प्रेम के आवेश में नेत्रों से आँसू निकलने लगते हैं। इन पंक्तियों में उसी अवस्था का सुन्दर वर्णन है। इस सम्बन्ध में दादू दयाल कहते हैं—

बिरहिन को सिंगार न भावइ।
है कोई अइसा राम मिलावइ॥
बिसरे अंजन मंजन चीरा।
बिरह व्यथा यह व्यापइ पीरा॥
नव सत थाके सकल सिंगारा।
है कोई पीर मिटाबन हारा॥
देह गेह नहिं सुद्धि सरीरा।
निस दिन चितवइ चातक नीरा॥
दादू ताहि न आवइ आन।
राम बिना भइ म्रितक समान॥

साधक जीव पूछता है—

पुछै छी पंथुक जन हम तोहि।
एहि बाटे देखल बूढ़ बटोहि॥

इधर-उधर भटकती हुई गौरी जिस-तिस बटोही से पूछती हैं—"हे पथिक, आप से पूछती हूँ, आपने किसी बूढ़े बटोही को इस रास्ते से जाते देखा"। ग्राम गीतों में पाया जाता है कि विरहिणी स्त्रियाँ पथिकों से पूछती हैं कि भाई पथिक तुमने कहीं ऐसे रंग-रूपवाले पुरुष को देखा। भारतीय ललनाओं का यह बहुत ही स्वाभाविक वर्णन है। "बूढ़ बटोही" शब्द का प्रयोग करना सार्थक है। सबसे पुराण-पुरुष के लिये "बूढ़ बटोही" छोड़ कर और कौन शब्द अधिक उपयुक्त हो सकता है। विरह की बाट जोहने के सम्बन्ध में दादू कहते हैं—"बाट विरह की सोधि करि, पंथ प्रेम का लेहु। लेइ के मारग जाइये, दूसर पाव न देहु।" उनकी हुलिया है कि वे विभूति धारण किये रहते हैं। संसार में श्रेष्ठता वा लोकोत्तर गुण जिस किसी रूप में देखा जाता है उसको विभूति कहते हैं।* ईश्वर की विभूति को धन, यौवन, बल, सौंदर्य्य आदि के रूप में देख कर ज्ञानी समझते हैं कि ईश्वर के इतने रूप प्रकट हुए हैं; पर साधारण जनता मुग्ध हो जाती है और इन्हीं विभूतियों को राजा, महाराजा, विद्वान् और पहलवान के रूप में पूजने लगती है, पर ये परमात्मा की सत्ता के सामने राख हैं, धूल हैं। इसी विभूति का दूसरा नाम माया है, जिससे ब्रह्म आवृत रहता है। जो

---

* यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥ गीता, अध्याय १०.

इनके सच्चे निःसार स्वरूप को देखते हैं वे विभु से लिपटते हैं; इनकी धूल और राख से (विभूतियों से) नहीं। †

परमात्मा रामचन्द्र के सम्बन्ध में भी कवि ने वैसी ही रचनायें की हैं—

> विहमोर परसन भेल।
> रघुपति दरसन देल॥
> देखलि बदन अभिराम।
> पुरल सकल मन काम॥
> जागि उठल पचो बान।
> बसि नहिं रहलें गेआन॥
> भनहिं विद्यापति भान हे।
> सुपुरुख न कर निदान हे॥

विधाता मेरे ऊपर प्रसन्न हुए। रघुपति का मुझे दर्शन मिला। उस सुन्दर मुख को मैंने देखा। हृदय की सभी लालसाएँ पूरी हो गईं। कामदेव के पाँचो बाण मानो एक साथ ही प्रकट हो गए। मुझे कुछ भी अपनी सुध-बुध न रही। विद्यापति कहते हैं कि सज्जन पुरुष किसी बात को अन्तिम दशा तक नहीं पहुँचाते।

साधारण रहस्यवाद का एक पद इस प्रकार है—

> एक दिन छलि नव रीति रे।
> जल मिन जेहन पिरीति रे॥

एक दिन ऐसा था जब जल और मीन की तरह हम लोगों

---

† इसी भाव का तुलसीदास ने इस प्रकार वर्णन किया है—राम देखि पुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहि बुध होहि सुखारे॥

में प्रगाढ़ प्रीति थी जिसका नया-नया स्वरूप नित्य प्रकट होता था।

एकहिं बचन बिच भेल रे।
हँसि पहु उतरो न देल रे॥

केवल एक बात का अन्तर हुआ, और हँस कर प्रभु ने उत्तर भी नहीं दिया। 'बचन का बीच होना' अहंकार का आगम है, जो आत्मिक अधःपात का कारण है। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों के हृदय में इस आसुरी वृत्ति को कभी सह नहीं सकते हैं। रास के अन्त में गोपियों ने समझा कि कृष्ण पूर्णतः हमारे वश में है। वे अन्तर्धान हो गये। * उनके शोक दूर हो जाने पर फिर मिले। मानस रामायण में नारद की भी यही दशा हुई।

एकहि पलंग पर कान्ह रे।
मोर लेख दुर देस भाग रे॥

कृष्ण एक ही पलंग पर हैं, पर, मालूम होता है किसी दूर देश में पड़े हुए हैं। यहाँ पलंग से मतलब शरीर से है। जीवात्मा और परमात्मा का निवास और परस्पर अनुभव शरीर के भीतर ही होता है। साधक जीव उसे इसी पलंग में पा लेता है, पर जो मोह ग्रस्त है उसे परमात्मा का अनुभव ही नहीं होता। निकट रहने पर भी वह उसके लिये बहुत दूर है। जो तत्त्वज्ञान द्वारा

---

*एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मनिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥४७
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानश्च केशव।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥४८
भागवत, स्कन्ध १० पूर्वार्ध। अध्याय २६

माया के आवरण को भेद सकता है वही पलंग पर पड़े हुए प्रिय को पहचान सकता है। इस संबन्ध में इस मार्ग के भक्तों और साधकों की उक्तियाँ स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त का वर्णन कर रही हैं। दादू दयाल कहते हैं—

दादू तौ पिय पाइये कर साईं की सेव।
काया माहिं लखायसी घटही भीतर देव ॥

शरीर-शय्या के विषय में आप कहते हैं—

दादू हरदम माहिं दिवान,
सेज हमारी पीय है।
देखहु सो सुबिहान,
इसक हमारी जीय है।

एक सेज में प्रिय के साथ विलास का आपने इस प्रकार वर्णन किया है—

काया माहइँ पाया तेज।
काया माहइँ सुन्दर सेज ॥
तेज पुंज की सुन्दरी तेज पुंज का कन्त।
तेज पुंज की सेज परि दादू बनेउ बसन्त ॥
पुहुप प्रेम बरसइ सदा हरिजन खेलहिँ फाग।
ऐसा कउतुक देखिये दादू मेरा भाग ॥
मालिक जागइ जियरा सोवइ, क्यों कर मेला होवइ।
सेज एक नहिँ मेला।
तातैं प्रेम न खेला ॥
साईं [illegible] न पावा।
सोवत जनम [illegible] गवाँवा ॥

गाफिल नींद न कीजइ ।
आयु घटइ तन छीजइ ॥
दादू जीव अपाना ।
झूठे भरमि भुलाना ॥

महात्मा कबीरदास की भी ऐसी उक्ति पाई जाती है । वे कहते हैं—

मोंको कहाँ ढूँढ़ता बन्दे मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं छगरी ना मैं भेड़ी ना मैं छुरी गड़ास में ।

शरीर-शय्या और प्रेम-केलि के विषय में ये कहते हैं

बालम आओ हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखिया देह रे ॥

सब कोई कहै तुम्हारी नारी हम को यह सन्देह रे ।
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसे नेह रे ।
अन्न न भावे नींद न आवे गृह बन धरे न धीर रे ।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी ज्यों प्यासे को नीर रे ।
है कोइ ऐसा पर उपकारी पिय को कहै सुनाय रे ।
अब तो बेहाल कबीर भये हैं बिन देखे जिउ जाय रे ।

नानक कहते हैं—

केहि रे बन खोजन जाई ।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई ॥
पुहुप मध्य जिमि बास बसत है
मुकुर माँझ जस छाई ।
तैसेई रहि बसै निरन्तर घट ही खोजहु भाई ॥
बाहर भीतर एकै जानौ यह गुरु ज्ञान बताई ।
जन नानक बिन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई ॥

फिर कवि कहता है—

जाहि बन केओ न डोल रे।
ताहि बन पिआ हँसि बोल रे॥

इन पंक्तियों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इसी भावना दादू दयाल इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

पानी पवन परस नहिं लागई,
तेहि संग करइ बसेरा।
सुन आकार जहाँ गम नाहीं,
आप ही आप अकेला॥
दादू जाइ जहाँ जन जोगी,
परम पुरुष सों मेला॥

पद—धरब जोगिनियाँ के भेस रे।
करब मैं पहुक उदेस रे॥

पार्वती कहती हैं—मैं योगिन का वेश धारण करूँगी और प्रभु को ढूँढ निकालूँगी। विरह द्वारा साधना के सिद्धान्त के विषय में दादू कहते हैं—

रतिवंती आरति करई राम सनेही आव।
दादू अवसर अब मिलइ यह बिरहिणि का भाव॥
दरसन कारन बिरहिनी वैरागिन होवइ।
दादू बिरह बियोगिनी हरि मारग जोहइ॥

पद—भनइ विद्यापति भान रे।
सुपुरुख न करे निदान रे॥

विद्यापति कहते हैं कि सज्जन किसी बात को "अति" तक पहुँचाते।

इस पद में "कान्ह" शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। यह प्रयोग इतना हलका हुआ है कि इससे 'राधाकृष्ण' का बोध भी नहीं होता। यह केवल परमात्मा का द्योतक रह जाता है। इसी अर्थ में 'कान्हा' शब्द का प्रयोग दादू दयाल ने भी किया है—

दई दाना दिलदार मेरे कान्हा।
तूँ ही मेरे जान जिगर यार मेरे खाना॥
तूँ ही मेरे मादर पिदर आलम बेगाना।
साहिब सिरताज मेरे तूँ ही सुलताना॥
दोस्त दिल तूँ ही मेरे किसका खिलखाना।
नूर चसम जिद मेरे तूँ ही रहिमाना॥
एकइ अस नाउँ मेरे तूँ ही हम जाना।
जानिब अजीज मेरे खूब खजाना॥
नेक नजर मिहर मीराँ बंदा मैं तेरा।
दादू दरबार तेरे खूब साहिब मेरा॥

दादू दयाल के इस पद में भी 'कान्हा' शब्द का प्रयोग ठीक विद्यापति के पद की तरह ही हुआ है।

साधारण रहस्यवाद का और एक पद इस प्रकार है—

सरस बसन्त समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप बचन एक भाखिय मुख सँ दुर करू चीरे।

बसन्त का सुन्दर सुहावना समय है। दक्षिण पवन धीरे-धीरे बह रहा है। ऐसे समय में कवि ने एक स्वप्न देखा कि एक परम सुन्दर 'रूप' सामने खड़ा है। महात्मा कबीर ने उस स्वप्न का वर्णन इस प्रकार किया है—

सपने में साइँ मिले सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपता मति सपना ह्वै जायइ॥

'रूप' शब्द से ही बोध होता है कि वह कोई स्थूल वस्तु नहीं
। वह है मूर्तिमान सौन्दर्य्य, सुन्दरता का भी सौन्दर्य्य। दादू
दयाल उस 'रूप' का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

अविनासी अँग तेज का ऐसा तत्त अनूप।
सो हम देखा नैन भरि सुन्दर सहज सरूप।

ऐसे सुन्दर स्वप्न में रूप राशि स्वामी आए। कहते हैं—
'मुख सूँ दुर करूं चीरे', अपने मुख पर से कपड़े हटाओ। काम,
क्रोध, लोभादि मनोविकार ही मुख के आवरण हैं। ये ही जीव
और ईश के बीच विभेद उत्पन्न करते हैं। इनके मन से हटते
ही प्रभु के रूप का दर्शन होने लगता है। कबीर कहते हैं—

घूंघट का पट खोल रे
तोको पीव मिलेंगे।
घट घट में वहि साईं रमता
कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन का गर्व न कीजे
झूठा पचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बारिले
आसा से मत डोल रे।
जोग जुगत से रंग महल में
पिय पाये अनमोल रे।
कहै कबीर अनन्द भयो है
बाजत अनहद ढोल रे।

भक्त जीवन का चरम उद्देश्य यही है कि—

पिव जो देखइ मुझ को हौं भी देखउँ पीव।
हौं देखउँ देखत मिलई सुख पावइ जीव॥

(दादू)

राजा सिव सिंह रूपनारायन
लखिमा देई प्रतिभाने।

विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरि ये सभी लक्ष्मी के समान हैं। चन्द्र मुख और कमल नेत्र धन-ऐश्वर्य्य के समान चित्ताकर्षक पर निस्सार और चञ्चल हैं, मैं यह राजा शिवसिंह, रूपनारायण और रानी लखिमा देवी के सामने कहता हूँ।

उपासना के इस मार्ग और सिद्धान्त के विषय में महात्मा दादू दयाल का कथन है कि—

सब हम नारी एक भतार।
सब कोई तन करैहि सिंगार।
घर घर अपना सेज सिंगारइ।
कंत पियारा पंथ निहारइ।
आरत अपनी पियको धावहिं।
मिलइ नाह कव अंग लगावहि।
अति आतुर ये खोजत डोलहिं।
बाना परी वियोगिन बोलहिं।
हम सब नारी दादू दीन।
दई सोहाग काहु संग लीन।
तन मन सौंपा राम को
तासन का व्यभिचार।
सहज सील संतोस सत
प्रेम भगति लेइ सार।

और हमारे कवि कहते हैं —

अपनहिं नागरि अपनहिं दूत।
से अभिसार न जान बहूत॥

की फल तेसर कान जनाए।
आनव नागर नयन बझाए॥
ए सखि राखहिसि अपनुक लाज।
परक दुआरे करह जनु काज॥
परक दुआरे करिअ जओं काज।
अनुदिन अनुखन पाइय लाज॥
दुहु दिस एक सओं होइक विरोध।
तकरा वजइते कतए निरोध॥

——:०:——

नचारी

मिथिला में आज भी यत्र-तत्र यह प्रथा है कि शंकर के भक्तगण अपने अंग-प्रत्यंगों में रुद्राक्ष की माला और विभूति धारण कर, हाथ में त्रिशूल और डमरू ले, प्रदोष पूजा के समय मन्दिर के प्रांगण में नृत्य किया करते हैं। नाच कर शंकर की आराधना करने के कारण, शायद ये 'नचारी' कहलाते हैं। उस समय के नृत्य-गान को सुन कर भक्तगण मुग्ध हो जाते हैं। हम शंकर के ताण्डव नृत्य की तात्त्विक विवेचना कर, एतद्विषयक कवि की रचना के सौन्दर्य्य को अनुभव करने की चेष्टा करेंगे।

मद्रास के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने १९१२ ईस्वी में 'सिद्धान्त-दीपिका' की १३ वीं पुस्तक में शंकर के विषय में एक लेख लिखा था। उसका स्वतन्त्र हिन्दी भाषान्तर इस प्रकार है *—

---

* देखिये—श्रीयुत गोपीनाथ राव-कृत "हिन्दू आइकोनोग्राफी" भाग १, पृ० २३१।

नटराज
(पीतल की मूर्ति से: अजायबघर, मद्रास)

शंकर 'नटराजराज' हैं। ब्रह्माण्ड उनकी नृत्यशाला है। उनके लय के भिन्न-भिन्न गतियाँ हैं। वे स्वयं ही नर्तक भी हैं और दर्शक भी। जब यह महानट तान देना आरम्भ करता है तो उस शब्द से आकर्षित हो कर नृत्य-लीलाएँ देखने के लिये सभी अपने-अपने स्थानों से निकल आते हैं। जब यह तमाशे की सभी वस्तुओं को समेट लेता है, तो आत्मसुख में निमग्न होकर वह अकेला ही अवस्थित रहता है।

शिवभक्तों को शंकर के कितने प्रकार के नृत्य मालूम हैं यह मैं नहीं कह सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी के मूल सिद्धान्त प्राय: एक ही हैं, अर्थात् संगीतमयी आदिशक्ति का विकास। शिव लूसियन (Lucian) के एरौस प्रोटोगोनोस (Eros Protogonos) हैं। उन्हों ने लिखा है—"ऐसा बोध होता है कि नृत्य से ही सभी वस्तुओं की सृष्टि का आरम्भ होता है और यह नृत्य पुराण-पुरुष एरोस (Eros) के साथ ही प्रकट हुआ, क्योंकि इस आदिनृत्य को हम ग्रह, नक्षत्र तथा तारकामण्डलों के सामूहिक नृत्य में, नियमित गति में, और एक दूसरे की गति रेखा के भीतर भी अबाध स्थान-परिवर्तन में पाते हैं।"

मेरे कहने का यह उद्देश्य नहीं है कि जो लोग उन्माद अथवा मद के आवेश में पहले-पहल अनार्य पहाड़ी देवता की (जो पीछे शिव के रूप में मिला लिये गये) पूजा में नाचा करते थे उनके हृदय में शंकर के नृत्य का सबसे उत्तम भाव वर्तमान था। धर्म अथवा कला का कोई श्रेष्ठ भाव अथवा महान् संकेत अखिल मानव समाज का सर्वस्व हो जाता है; युग-युगान्तर में भी वह लोगों को ऐसा दुर्लभ रत्न प्रदान करता रहता है जिसे वे सर्वत्र अपने हृदय में वर्तमान पाते हैं। शंकर के नृत्य की उत्पत्ति

चाहे जिस किसी रीति से क्यों न हुई हो, कालान्तर में यह ईश्वर के क्रिया-कलापों का मूर्त्तस्वरूप बन गया। यह ऐसी वस्तु है जिसके लिये कोई भी धर्म वा कला गर्व कर सकती है। शंकर के अनेक नृत्यों में से मैं केवल तीन ही का वर्णन करूँगा; उनमें से एक ही मेरे विवरण का प्रधान विषय होगा। उनमें से एक देवताओं के स्वर्गीय संगीत के साथ प्रदोषनृत्य है जो हिमालय पर्वत पर हुआ करता है। शिव प्रदोषस्तोत्र में उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है*—

"तीनों लोकों को उत्पन्न करनेवाली माता (गौरी, माया) को रत्नखचित स्वर्ण सिंहासन पर बिठाकर कैलासादि के तुंग शिखर पर शूलपाणि नृत्य करते हैं, और सभी देवगण उनके चारों ओर उपस्थित रहते हैं।

"सरस्वती वीणा बजाती है और इन्द्र वेणु; ब्रह्मा अपने हाथों में ताल देने का यन्त्र धारण करते हैं, लक्ष्मी गीत आरम्भ

---

* कैलासशैलभुवने त्रिजगज्जनित्रीं
गौरीं निवेश्य कनकाचितरत्नपीठे।
नृत्यं विधातुमभिवाञ्छति शूलपाणौ
देवाः प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे ॥४॥
वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणु दधत्पद्मजस्—
तालोन्निद्रकरो रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता।
विष्णुः सान्द्रमृदङ्गवादनपटुर्देवाः समन्तात्स्थिताः।
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम् ॥५
गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य-
विद्याधरामरवराप्सरसांगणाश्च।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सहभूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमये हरपार्श्वसंस्थाः ॥१६॥

करती है, विष्णु बड़ी निपुणता से मृदंग बजाते हैं, और सभी देवगण उनके चारों ओर खड़े रहते हैं।

"गन्धर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सर और तीनों लोक में निवास करने वाले सभी जीव संध्या (प्रदोष) के समय दिव्य नृत्य और दिव्य संगीत को सुनने के लिये एकत्र होते हैं।"

कथा सरित्सागर के मंगलाचरण में भी इस नृत्य की चर्चा की गई है।

शंकर का दूसरा प्रसिद्ध नृत्य ताण्डव कहलाता है। इनके तामसिक रूप का भैरव और वीरभद्र के साथ सम्बन्ध है। यह श्मशान में होता है। इसमें शंकर की दश भुजाएँ होती हैं और देवी तथा भूत-पिशाचों के साथ ये उद्धत रीति से नाचते हैं। एलिफैन्टा, एलोर और भुवनेश्वर की [illegible] में प्रायः ऐसी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इस ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति किसी अनार्य देवता से हुई है जो अंशतः देवता और अंशतः दैत्य थे तथा रात्रि के सन्नाटे में श्मशान में विहार किया करते थे। पीछे के समयों में शैव और शाक्त ग्रन्थों में शिव और देवी के इस श्मशान-नृत्य का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी और गम्भीर भाव से किया गया है।

तीसरा नटराज का नादान्त नृत्य है, जो ब्रह्माण्ड के केन्द्र चिदम्बरम् अथवा तिल्लई के स्वर्णमण्डप की सभा में हुआ करता है। 'कोयिल पुराणम्' में लिखा है कि तारक वन में ऋषियों के प्रार्थना करने पर पहले-पहल इस नृत्य का रहस्य देवताओं और ऋषियों को मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में एक कथा है जिसका इस नृत्य के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। उसका सारांश यों है :—

चाहे जिस किसी रीति से क्यों न हुई हा, कालान्तर म यह ईश्वर के क्रिया-कलापों का मूर्त्तस्वरूप बन गया। यह ऐसी वस्तु है जिसके लिये कोई भी धर्म वा कला गर्व कर सकती है। शंकर के अनेक नृत्यों में से मैं केवल तीन ही का वर्णन करूँगा; उनमें से एक ही मेरे विवरण का प्रधान विषय होगा। उनमें से एक देवताओं के स्वर्गीय संगीत के साथ प्रदोषनृत्य है जो हिमालय पर्वत पर हुआ करता है। शिव प्रदोषस्तोत्र में उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है*—

"तीनों लोकों को उत्पन्न करनेवाली माता (गौरी, माया) को रत्नखचित स्वर्ण सिंहासन पर बिठाकर कैलासादि के तुंग शिखर पर शूलपाणि नृत्य करते हैं, और सभी देवगण उनके चारों ओर उपस्थित रहते हैं।

"सरस्वती वीणा बजाती है और इन्द्र वेणु; ब्रह्मा अपने हाथों में ताल देने का यन्त्र धारण करते हैं, लक्ष्मी गीत आरम्भ

---

* कैलासशैलभुवने त्रिजगज्जनेत्रीं
गौरीं निवेश्य कनकाचितरत्नपीठे।
नृत्यं विधातुमभिवाञ्छति शूलपाणौ
देवाः प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे ॥४॥
वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणुं दधत्पद्मजस्—
तालोन्निद्रकरो रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता।
विष्णुः सान्द्रमृदङ्गवादनपटुर्देवाः समन्तात्स्थिताः।
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम् ॥५
गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य-
विद्याधरामरवराप्सरसांगणाश्च।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सहभूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमये हरपार्श्वसंस्थाः ॥१६॥
प्रदोषस्तोत्रम्—

करती है, विष्णु बड़ी निपुणता से मृदंग बजाते हैं, और सभी देवगण उनके चारों ओर खड़े रहते हैं।

"गन्धर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सर और तीनों लोक में निवास करने वाले सभी जीव संध्या (प्रदोष) के समय दिव्य नृत्य और दिव्य संगीत को सुनने के लिये एकत्र होते हैं।"

कथा सरित्सागर के मंगलाचरण में भी इस नृत्य की चर्चा की गई है।

शंकर का दूसरा प्रसिद्ध नृत्य ताण्डव कहलाता है। इनके तामसिक रूप का भैरव और वीरभद्र के साथ सम्बन्ध है। यह श्मशान में होता है। इसमें शंकर की दश भुजाएँ होती हैं और देवी तथा भूत-पिशाचों के साथ ये उद्धत रीति से नाचते हैं। एलिफैन्टा, एलोर और भुवनेश्वर की तक्षण-कलाओं में प्राय: ऐसी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इस ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति किसी अनार्य देवता से हुई है जो अंशत: देवता और अंशत: दैत्य थे तथा रात्रि के सन्नाटे में श्मशान में विहार किया करते थे। पीछे के समयों में शैव और शाक्त ग्रन्थों में शिव और देवी के इस श्मशान-नृत्य का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी और गम्भीर भाव से किया गया है।

तीसरा नटराज का नादान्त नृत्य है, जो ब्रह्माण्ड के केन्द्र चिदम्बरम् अथवा तिल्लई के स्वर्णमण्डप की सभा में हुआ करता है। 'कोयिल पुराणम्' में लिखा है कि तारक वन में ऋषियों के प्रार्थना करने पर पहले-पहल इस नृत्य का रहस्य देवताओं और ऋषियों को मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में एक कथा है जिसका इस नृत्य के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। उसका सारांश यों है :—

तारक वन में मीमांसा के माननेवाले बहुत से नास्तिक ऋषि रहते थे। उन लोगों के सिद्धान्त को झूठ सिद्ध करने के लिये एक सुन्दरी के रूप में विष्णु को, और आदि शेष को साथ लेकर शंकर चले। पहले ऋषिगण आपस में ही घोर वाद-विवाद करने लगे, पर शीघ्र ही उनका क्रोध शंकर पर आ पड़ा और मन्त्रों द्वारा उनका संहार करने की उन्होंने चेष्टा की। यज्ञाग्नि से एक भयंकर व्याघ्र प्रकट हुआ और उन पर टूट पड़ा। ईषद्धास्य कर शंकर ने उसे पकड़ लिया और अपनी कानी उंगली के नख से उसका चर्म छुड़ा कर रेशमी वस्त्र की तरह पहन लिया।* इस असफलता से हतोत्साह न होकर ऋषियों ने फिर आहुति देना आरम्भ किया और एक बड़े प्रचण्ड सर्प को उत्पन्न किया। शंकर ने उसे पकड़ लिया और माला की तरह गले में डाल लिया और नाचने लगे। उसके बाद मयुलक नामक एक बौना दैत्य (अपस्मार पुरुष) उनके ऊपर टूट पड़ा। शंकर ने अपने अंगूठे से उसकी रीढ़ तोड़ दी। वह छटपटाता हुआ जमीन पर गिर पड़ा। अपने अन्तिम शत्रु को जमीन पर सुला कर देवताओं और ऋषियों के समक्ष शंकर फिर नृत्य करने लगे।

तब आदिशेष ने शंकर की पूजा-स्तुति की और सबसे अधिक इसी वरदान की प्रार्थना की कि एक बार फिर वही रहस्यमय दिव्य नृत्य दिखलाइये। शंकर ने प्रतिज्ञा की कि विश्व के केन्द्र तिल्लई तीर्थ में यह नृत्य दिखलाऊँगा। चिदम्बरम् अथवा तिल्लई में दिखलाया हुआ शंकर का यह नृत्य दक्षिण भारत में नटराज की बहुत-सी मूर्तियों का विषय है। इन मूर्तियों की

---

*किसी गज के विषय में ऐसी ही कथा पाई जाती है। इसलिये कभी-कभी इसे व्याघ्रचर्म न कह कर गजचर्म कहा जाता है।

छोटी-छोटी बातों में यत्र-तत्र अन्तर है, पर सभी एक ही मूल सिद्धान्त का अवलम्बन करती है। 'इन मूर्तियों का क्या मतलब है' इसकी खोज करने के पहले यह आवश्यक होगा कि नटराज की जैसी मूर्त्ति मिल रही है उसका वर्णन किया जाय। शंकर की इन 'नृत्य मूर्तिओं' में चार भुजाएँ हैं। केशपाश बँधे हुए और रत्नों से अलंकृत हैं। नीचे की जटाएँ नृत्यकाल में घूम रही हैं। बालों में कपाल, लिपटा हुआ एक कृष्ण सर्प और गंगा की मूर्ति, चन्द्रमा और पत्रों की एक माला दिखलाई पड़ती है। दाहिने कान में पुरुषों का और बाएँ में स्त्रियों का कुण्डल है। वे हार, कंकण रत्नखचित मेखला और अँगूठियों से अलंकृत हैं। कसा हुआ कटिवस्त्र, उड़ता हुआ अंगवस्त्र (चादर) और उपवीत ही उनके प्रधान परिधान हैं। एक दाहिने हाथ में डमरू है, दूसरा अभयमुद्रा में ऊपर उठा हुआ है। एक बाएँ हाथ में अग्नि है, दूसरा उठे हुए पैर की ओर संकेत करता हुआ नीचे झुका है। दाहिना पैर छोटे दैत्य मुयलक पर पड़ा है जो अपने हाथ में एक काला साँप पकड़े हुए है। बायाँ पैर ऊपर की ओर उठा है। मूर्ति पद्मपीठ पर है जिसमें ज्वालमाल से अलंकृत एक बहुत बड़ा प्रभामण्डल लगा है। डमरू और अग्नि वाले हाथ इसे भीतर की ओर स्पर्श करते रहते हैं। मूर्तियाँ छोटी-बड़ी सब प्रकार की हैं। शायद ही कोई चार फीट बड़ी हो।

साहित्यिक ग्रन्थों का आधार न लेकर भी इस नृत्य के अंतर्गत सिद्धान्त का वर्णन करना कठिन नहीं है। सौभाग्यवश ऐसे साहित्यिक ग्रंथ भी वर्तमान हैं जिनकी सहायता से नृत्य के साधारण सिद्धान्तों के ही नहीं, वरन् इसके स्थूल सांकेतिक चिन्हों की भी पूरी व्याख्या की जा सकती है। नटराज मूर्ति

की कुछ विशेषताएँ केवल नृत्य में ही नहीं, शिव की साधारण मूर्तियों में भी पाई जाती हैं; जैसे—योगियों की जटा, पत्रमाल, ब्रह्म कपाल, गंगा की मूर्ति, जटा में घूमती हुई गंगा की धारा, नाग, अर्द्धनारीश्वर के भिन्न-भिन्न आभरण, और चार भुजाएँ। डमरू योगीश्वर शंकर का एक साधारण चिन्ह है पर नृत्य में इसका खास मतलब है। अब प्रश्न होता है कि शिव का नृत्य क्या वस्तु है? शैवगण इसे क्या समझते हैं? इस नृत्य का नाम नादान्त है। ग्रंथों में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"ईश्वर नर्तक हैं जो लकड़ी में छिपी हुई आग की तरह चेतन और अचेतन में अपनी शक्ति का संचार करते हैं और उन्हें नचाते हैं" *

यत्न यथार्थ में ईश की पंच-क्रियाओं का अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह का द्योतक है। अलग-अलग ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव की क्रियाएँ हैं।

---

* Kadavul Munivar's Tiruvalavurar Puranam, translated by Nallasvami Pillai Shivajnanabodham, P. 74. This could also be rendered :

Like heat latent in fire wood, he fills all bodies:

Our father dances, moving all souls into action know ye !

Compare Eckhart ; Just as the fire infuses the essence and clearness into the dry wood so has God done with man.'

शिव की यह क्रिया नृत्य का मुख्य विषय है। और भी अन्यान्य अवतरणों से सांकेतिक चिन्हों का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। उणमाइ विलक्कम् का छत्तीसवाँ पद इस प्रकार है—

"डमरू से सृष्टि होती है, अभयहस्त से रक्षा होती है, अग्नि से संहार होता है, और उर्ध्वपद से मुक्ति मिलती है।" मुक्ति और अनुग्रह का एक ही अर्थ है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि चौथा हाथ आत्मा के रक्षक उठे हुए पाँव की ओर संकेत करता है।

चिदम्बर मुम्माणी कोवइ में भी पाया जाता है कि—"प्रभो, दिव्य डमरू वाले आप के हाथ ने द्यावा-पथिवी, अनन्तलोकों और असंख्य जीवात्माओं की सृष्टि की है। आपका ऊर्ध्वहस्त चेतन और अचेतन प्रपंचरूप सृष्टि की रक्षा करता है। आप के अग्नि वाले हस्त से इन लोकों में परिवर्तन उत्पन्न होता है। भूमि पर आरोपित आप का पवित्र चरण कर्मबन्धन में छटपटाते हुए आत्मा को शरण देता है। जो आप की शरण में जाते हैं उन्हें आप का ऊर्ध्वचरण निर्वाण प्रदान करता है। ये पाँचों क्रियाएँ आपके ही हाथों के कर्म हैं।"

तिरुमूलर-कृत तिरुमन्त्रम् का नवाँ तन्त्र तिरुकुट्ट दर्शन (दिव्य नृत्य का दर्शन) है। इसके पदों से यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जाता है—"उनका रूप सर्वत्र है, उनकी शिव-शक्ति सर्वव्यापिनी है। चिदम्बर सर्वत्र हैं, उनका नृत्य भी सर्वव्यापी है। शिव ही सब कुछ हैं, सर्वव्यापी हैं, इसलिये उनका मंगलमय नृत्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनके पाँच प्रकार के नृत्य सकल और निष्कल रूप में होते हैं, उनके पंच-नृत्य उनकी पंचक्रियाएँ हैं। अपनी मंगलमयी कामना से वे

पंचकर्म करते हैं, यही उमासहाय का दिव्य नृत्य है। वे जल, अग्नि, वायु और आकाश के साथ नाचते हैं, * इस प्रकार हमारे प्रभु अपने प्रांगण में सर्वदा नृत्य किया करते हैं। प्रभु का यह अनादि और अनन्त नृत्य उन्हें ही दिखलाई पड़ता है जो माया से ही नहीं महामाया से भी ऊपर उठ चुके हैं।''

शक्ति का स्वरूप आनन्द है—(ब्रह्म और माया का) सम्मिलित आनन्द ही उमा का शरीर है; शक्ति के सकल (सगुण) स्वरूप का विकास, दोनों का (ब्रह्म और माया का) सम्मिलन ही नृत्य है।

उनका शरीर आकाश है† उसमें काला बादल मुयलक है, आठो दिशाएँ उसकी आठ भुजाएँ हैं ‡ तीनों ज्योति उसके तीन नेत्र हैं, § इस प्रकार वह आत्मविकाश कर हमारे शरीर को ही सभा बनाकर उसमें नृत्य करता रहता है।''

---

* मही पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदम् ।
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा ।
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥ १६

महिम्न ॥

† एकानेकस्थूलसूक्ष्मानुमूर्ते व्योमातीत व्योमरूपैकरूप ।
व्योमाकार व्यापक व्योमसंस्थ व्योमारूढ व्योमकेशाब्जयोने ॥
स्कन्द पु० विष्णुखण्ड, अध्याय १६, श्लो० ३९

‡ दिशश्चतस्रोऽव्ययबाहवस्ते । विष्णु पु० अंश ५, अध्याय ९, श्लो० २६

§ इनेन्द्वर्कवह्निस्त्रिनेत्रम् वेदसार शिवस्तवः श्लो० २

मूल लेख में ये संस्कृत पाद-टिप्पणियाँ नहीं हैं। पाठकों की सुविधा के लिये मैंने इन्हें जोड़ दिया है। मूल लेख के प्रमाण में तामिल अक्षरों में लिखे हुए पद हैं जिन्हें यहाँ देने की मैंने आवश्यकता नहीं समझी।

—लेखक

यह शंकर का नृत्य है। इसके गम्भीर उद्देश्य का अनुभव तब होता है जब यह हृदय और आत्मा के भीतर होने लगता है। ईश्वर का राज्य भीतर ही है। ईश्वर सर्वव्यापी हैं, हृदय भी सर्वत्र पाया जाता है। इसी प्रकार एक और पद है।

"नाचता हुआ चरण, किंकिणि ध्वनि, गाये जाने वाले राग, विचित्र चरणन्यास, नृत्य गुरु के स्वरूप—इन्हें अपने भीतर ही ढूँढ़ निकालो, तब तुम्हारे बन्धन कट जायँगे—"

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये ईश्वर के सिवा और सभी विचारों को हृदय से निकाल डालना ही पड़ेगा, जिसमें केवल वही निवास कर नृत्य कर सके। † उणमइ विलक्कम् में हम लोग पाते हैं :—"मौनी ज्ञानी तीनों बन्धनों का नाश कर जहाँ उनका आत्मलय होता है वहाँ ही स्थित रहते हैं। वहाँ वे उस 'पवित्र' का दर्शन करते हैं और आनन्द से उनका हृदय भर जाता है। यही (चित्) सभेश का नृत्य है "जिनका स्वरूप लावण्य का विलास है।"

मौनी ज्ञानियों की भावना के साथ तिरुमूलर के इन सुन्दर शब्दों की तुलना कीजिये—

"वहाँ रहते समय उन्हें (परम शान्ति के स्थान को प्राप्त किये हुए योगियों को) आत्म विस्मृति हो जाती है और वे निष्क्रिय हो जाते हैं। जहाँ कर्मत्यागी आलसी निवास करते हैं वह विशुद्ध दिक् है। जहाँ ये कर्मत्यागी खेलते हैं उसका

---

† नटराजज के रासनृत्य पर ध्यान दीजिये। उसका भी यही सिद्धान्त और रहस्य है।—ले०

नाम प्रकाश है। ये कर्मत्यागी जो जानते हैं वह वेदान्त है। इन कर्मत्यागियों को वहाँ जो मिलता है वह घोर निद्रा है।"

शिव संहारकर्ता हैं और श्मशान इन्हें प्रिय है। किन्तु वे संहार किसका करते हैं? कल्पान्त में केवल द्यावापृथिवी का ही वे संहार नहीं करते, वरन् उन बन्धनों का संहार करते हैं जो प्रत्येक आत्मा को बाँधे रहते हैं। श्मशान क्या है? और कहाँ है? यह वह स्थान नहीं है जहाँ हमलोगों का पार्थिव शरीर जलाया जाता है, वरन् यह भक्तों का हृदय है जो वीरान और उजाड़ हो गया है। यह शान्ति नहीं तलवार ला देता है जहाँ भक्तों के स्वत्व का संहार होता है। उस स्थान से उस स्थान वा दशा का बोध होता है जहाँ उनका अहंकार अथवा माया और कर्म जलाकर राख बना दिये जाते हैं; यही श्मशान है जहाँ नटराज नृत्य करते हैं। इसीलिये इनका नाम श्मशान भूमि का नर्तक है। नटराज के मंगलमय नृत्य और श्मशान के प्रेत के ताण्डव नृत्यवाली इस उपमा में हमें ऐतिहासिक सम्बन्ध दीख पड़ता है।

नृत्य का यह भाव शाक्तों में भी और विशेषत: बंगाल के शाक्तों में प्रचलित है, जहाँ शंकर के पितृरूप की अपेक्षा मातृ रूप की ही पूजा होती है। यहाँ नर्तकी काली है।* इनके प्रवेश के लिये त्याग द्वारा हृदय को शून्य कर अग्नि से इसका संस्कार करना पड़ता है। एक बँगला स्तोत्र में काली की स्तुति की गई है—

---

*सिद्धान्तदीपिका की पुस्तक २, पृ० १३ में 'काली क्या है' शीर्षक लेख देखिये।

"श्मशान निवासिनी कालिके, तुम्हें श्मशान प्यारा है इसलिये अपने हृदय को मैंने श्मशान बना लिया है। वहाँ तू अनादि और अनन्त नृत्य कर।"

"माँ, मेरे हृदय में और कुछ नहीं है। दिन और रात चिता को प्रज्वलित रखती है। तेरे शुभागमन के लिये चिताभस्म मैंने चारों ओर बिखेर रखा है। मृत्युञ्जय महाकाल के ऊपर नृत्य करती हुई मेरे हृदय में प्रवेश कर, जिसमें आखें बन्द कर मैं तेरा दर्शन कर सकूँ।"

दक्षिण भारत में भी अन्यान्य तामिल ग्रंथों † में हम पाते हैं—

"असंख्य जीवात्माओं को द्विविध फल प्रदान करने के लिये हमारे प्रभु पंच क्रियाओं द्वारा नृत्य करते हैं।" द्विविध फल है 'इहम्' सांसारिक तुष्टि और 'परम्' मुक्ति का आनन्द।

उणमाइ विलक्कम् के ३२, ३६ और ३९ वें छन्द में हम देखते हैं—

"हमारे पापों को दूर करने के लिये हमारे आत्मा में ही 'विशुद्ध ज्ञान स्वरूप' का नृत्य होता है। इस प्रकार हमारे पिता माया-अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, मल का (आणव, अविद्या का) नाश कर देते हैं, करुणा वृष्टि करते हैं और बड़े स्नेह से आत्मा को आनन्द-सागर में निमज्जित कर देते हैं। जो इस रहस्यमय नृत्य को देखते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता।"

शैव ग्रन्थों में लिखा है कि भगवान की लीला का अर्थ है

---

† सुपत्त, सूत्र ५. ५

संसार का उद्भव और विकास। यह भगवान की लीला वा खेल के लिये किया जाता है। तिरु-मूलर लिखते हैं कि "सर्वदा नर्तन करना ही उनका खेल हो जाता है।"

इस भाव से लोगों के हृदय में शंका होती है कि वे मामूली दुनियाबी नचनियें की तरह नाचा करते हैं। इसका उत्तर यह है कि वे, विश्व की जीवन-रक्षा के लिये और जो उन्हें ढूंढ़ते हैं उन्हें मुक्ति देने के लिये, नाचते हैं।

शैवमत के सांकेतिक चिन्हों में पञ्चाक्षर मन्त्र "नमः शिवाय" का कोई विशेष उद्देश्य है। इसकी तादात्मता शिव के नृत्य से दिखलाई जाती है। उणमाइ विलक्कम् में (३३-३५) नृत्य के साथ इन अक्षरों के नृत्य की तादात्मता इस प्रकार दिखलाई गई है—

"उनके चरणों में 'न' नाभि में 'म' स्कन्ध देश में 'शि' मुखमण्डल में 'व' और मस्तक में 'य' है।

पञ्चाक्षर के ध्यान की दूसरी रीति भी दी गई है—

"डमरू वाला हाथ 'श', फैला हुआ हाथ 'व', अभयहस्त 'य', अग्नि वाला हाथ 'न' और मुयलक को दबाकर रखने वाला पैर "म" है। उसी ग्रंथ में और भी लिखा है कि— "पाँचो अक्षरों के अर्थ क्रमशः ईश्वर, शक्ति, आत्मा, तिरोभाव और मल हैं...यदि इन पाँच सुन्दर अक्षरों का ध्यान किया जाय तो आत्मा उस जगत में पहुँच जायगा जहाँ न प्रकाश है और न अन्धकार। वहाँ शक्ति का शिव में लय हो जायगा।"

उणमइ विलक्कम् का एक और पद प्रभामण्डल की व्याख्या इस प्रकार करता है—पञ्चाक्षर, नृत्य और ऊँकार में

कोई भेद नहीं है। लिखे हुए ऊँकार की बाहरी वृत्तरेखा ही प्रभा-मण्डल है। नटराज के ऊपर प्रभामण्डल ऊँकार है; और इसकी प्रभा ही अक्षर है जो ऊँकार से कभी अलग नहीं रहता। यही है चिदम्बरेश का नृत्य !

शैवमत का एक दूसरा ग्रंथ (तिरु-अरुल-पयन ६-३) कहता है शिव का नृत्य ज्ञान का नृत्य है और प्रभामण्डल प्रकृति का नृत्य है—"एक और प्रकृति का नृत्य होता है और दूसरी ओर ज्ञान का। अपना मन द्वितीय के केन्द्र में स्थिर करो।" इसकी व्याख्या के लिये मैं नल्ल स्वामी पिल्लइ का ऋणी हूँ। आप कहते हैं—'प्रथम नृत्य प्रकृति के कर्म का आरम्भ है। यह भौतिक और व्यक्तिगत शक्ति का स्फुरण है। यही प्रभामण्डल, ऊँकार या काली का नृत्य है। दूसरा शंकर का नृत्य है। यह अक्षर है जो ऊँकार से भिन्न नहीं हो सकता। यही प्रणव की अर्द्ध-मात्रा चतुर्थम् अथवा तुरीयम् कहलाता है। यदि शिव की इच्छा न हो, या वे स्वयं नाचना न चाहें तो प्रथम नृत्य (प्रकृति-नटी का) असम्भव है।"

इस व्याख्या का सारांश यही मालूम होता है कि प्रभा-मण्डल भौतिक उपादान वा प्रकृति का बोधक है। इसके भीतर प्रभा-रूप शंकर हैं जो नृत्य करते हुए हाथ, पैर और मस्तक से इसे स्पर्श करते रहते हैं। यही सर्वव्यापी पुरुष हैं। जिस प्रकार 'शिव' और 'नमः' के बीच में 'य' की स्थिति है उसी प्रकार इन दोनों के बीच में आत्मा अवस्थित है।

इन सभी व्याख्याओं का सारांश यही होता है कि शिव के नृत्य के तीन प्रधान भाव हैं। प्रथम इनका यह नृत्य इनके नियमित कार्यकलापों का प्रतिरूप है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ वस्तु

मिलती है उसको हिलानेवाली शक्ति का मूलश्रोत यही नृत्य है। इस विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का द्योतक प्रभामण्डल है। द्वितीय, असंख्य जीवात्माओं को माया के बन्धन से मुक्त करना ही इस नृत्य का उद्देश्य है। तृतीय नृत्य का स्थान विश्व का केन्द्र चिदम्बरम् हृदय के भीतर है।

इस विषय के इन विवरणों में मैंने जान बूझ कर कला-विषयक सौन्दर्य्य की आलोचना छोड़ दी है। हमने केवल मूर्तियों और ग्रन्थों का आधार लेकर शिव के नृत्य के मूल सिद्धान्तों को देने की चेष्टा की है। अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि इस भाव की गम्भीरता और सौन्दर्य्य ही विज्ञान, धर्म और कला का एकत्रीभूत समस्त रूप है। कला के मर्मज्ञ जिन ऋषियों ने प्रथम ऐसी वस्तुओं की कल्पना की, वास्तविक सत्य की प्रतिमा का निर्माण किया, जीवन की जटिलताओं की कुंजी तैयार की, प्रकृति के ऐसे सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले जो केवल एक ही जाति या कुनवे को सन्तोष प्रदान नहीं करते और न एक ही शताब्दी के मनीषियों को मान्य है, वरन् सभी काल में और सभी देशों में दार्शनिकों, भक्तों और कलाकारों के हृदय पर अधिकार कर लेते हैं, उनकी कल्पनाशक्ति, विचारशक्ति और सहृदयता कितनी विशाल और अद्भुत होगी! इस विशेषज्ञता * के युग में हमें विचार-समष्टि की † आदत नहीं है। किन्तु जिन्होंने इन मूर्तियों का 'दर्शन' किया उनकी दृष्टि में जीवन और विचार में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। जब किसी व्यक्ति-विशेष की कृति की हम आलोचना करते हैं तो उस समय भी हम उसकी उत्पादिका शक्ति को अनुभव नहीं कर सकते; अथवा

* Specialization. †A synthesis of thought.

संगीत की भाषा में यही बात इस तरह कही जा सकती है कि रागों का निकल आना अनिवार्य था ; कोई न कोई इसे अवश्य ढूँढ़ निकालता; पर तो भी राग पर विचार करते समय हृदय की उस शक्ति का हम अनुभव नहीं करते जिसने ताल और लय के कम्पन के विकास करने वाले राग को ढूँढ़ निकाला।

ऐसी प्रतिभाओं का प्रत्येक अंश किसी मिथ्या विश्वास वा शास्त्र के कानून का अनुसरण नहीं करता, वरन् प्रकट सत्य का वर्णन करता है। विज्ञान भी इस मत को मानता है कि दृश्य जगत के भीतर कोई शक्ति काम कर रही है। वर्तमान युग का बड़े से बड़ा कोई भी कलाकार इससे अधिक बुद्धिमत्ता और अधिक पूर्णता के साथ उस शक्ति की प्रतिभा का निर्माण नहीं कर सकता। यदि काल और शक्ति को हम एक साथ रखना चाहें तो दिशा और काल के विशाल विस्तार की कल्पना द्वारा ही हम रख सकते हैं * डमरू और अग्नि से केवल दृश्य 'परिवर्तन' का बोध होता है संहार का नहीं। ये चिन्ह बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये ब्रह्मा के दिन और रात्रि के चिन्ह हैं जो आँखो से देखे जा सकते हैं।

ब्रह्मा के रात्रिकाल में प्रकृति निश्चल रहती है, और जब तक शिव की इच्छा नहीं हो तब तक नहीं नाच सकती। वे अपनी समाधि से जागते हैं और उनका नृत्य जगानेवाले शब्दों की तरंगों को निश्चल प्रकृति में उत्पन्न करता है। प्रकृति भी उसके चतुर्दिक प्रभामण्डल के रूप में प्रकट हो कर नाचने लगती है, नृत्य करता हुआ यह उसके नाना रूप की रक्षा करता है। काल पाकर, नृत्य करता हुआ ही वह अग्नि द्वारा सभी

* Oliver Lodge, Hibbert Journal, Vol X, No 2, 1911.

नाम-रूपों का संहार कर डालता है और प्रकृति को विश्राम देता है। यह तो काव्य है, पर काव्य होने पर भी विज्ञान का सत्य है।

नटराज केवल सत्य ही नहीं प्रेम भी हैं, क्योंकि करुणा वृष्टि करना अर्थात् असंख्य जीवात्माओं को मुक्ति प्रदान करना उनके नृत्य का उद्देश्य है। जिन कलाविदों ने जीवन के मूल तत्त्व को मूर्त्तरूप देने की चेष्टा की है उन्हें इस नृत्यमूर्ति की शक्ति और कल्पना कितनी विशाल है यह मालूम होता होगा!

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने युगों से नटराज की पूजा होती आ रही है। हमलोग सब प्रकार की नास्तिकता समझते हैं, यह भी ढूढ़ निकालते हैं कि सभी धार्मिक भाव असभ्यों के मिथ्याविश्वास से उत्पन्न हुए हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट् से विराट् की खोज करते हैं; यह सब कुछ करते रहने पर भी हम नटराज के पुजारी हैं।

आनन्द कुमार स्वामी।

संस्कृत साहित्य में नटराज के नृत्य का और भी अनेक स्थानों में बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इस विवेचना के बाद इस विषय को और अधिक पल्लवित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस विराट् नृत्य की नक़ल कर अपने हृदय में नृत्य करने के लिये परमात्मा का आह्वान करना भक्ति का सरल किन्तु सुन्दर मार्ग है। ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें विराट् की विशालता का बोध होता है। पर विद्यापति के इस नृत्य-वर्णन का ढंग निराला है। आप लिखते हैं—

आजु नाथ एक वर्त्त महासुख लागत हे।
अहाँ शिव धरु नट भेस कि डमरु बजाएब हे॥

पार्वती कहती हैं—प्रभो, आज एक व्रत का समारोह हो, महोत्सव हो; इसमें बड़ा ही आनन्द रहेगा। आप नर्त्तक वेष धारण करें और डमरू बजे। डमरू का शब्द ही सृष्टि का आरम्भ है। प्रकृति को नृत्य के लिये बुलाने को पुरुष का यह संकेत है, पुकार है। शब्द से आकृष्ट होकर प्रकृति पुरुष के साथ नाचने लगती है, और सृष्टि का आरम्भ होता है। सांख्य-कारिका में लिखा है—

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्ततते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥५
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥५६

जिस प्रकार अपनी उत्सुकता दूर करने के लिये जन साधारण किसी क्रिया में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार पुरुष की उत्सुकता को दूर करने के लिये प्रकृति प्रवृत्त होती है। दर्शकों को अपनी कला दिखाकर नर्तकी जिस प्रकार नृत्य रोक देती है उसी प्रकार पुरुप के सन्मुख अपना विकास कर प्रकृति हट जाती है। प्रकृति नटी आज शंकर का नृत्य देखना चाहती है। इसलिये नटराज से महानृत्य का प्रस्ताव करती है। आज उसकी इच्छा नृत्य देखने की है, करने की नहीं। शंकर कहते हैं—

अहाँ जे कहै छी गौरा नाचय हम कोना नाचब हे।
एक सोच मोरा होइय चारि कोना बाँचत हे॥

देवि, आप तो नाचने को कहती हैं, पर मैं कैसे नाचूँ। आप

तो जानती हैं कि विष-अमृत, शत्रु-मित्र, भले-बुरे सबका निवास मेरे साथ है। यदि मैं नाचने लगूँ तो इन सब में आन्दोलन आरम्भ हो जायगा और बड़ी विपत्ति उपस्थित हो जायगी। मुझे चिन्ता होती है कि चार जो मेरे शरीर और परिवार के साथ ही लिपटे हुए हैं उनका कुशल पूर्वक कैसे निर्वाह होगा। प्रथम,

अमिअ चुविअ भूमि खसत बघम्बर जागत हे।
होएत बघम्बर बाघ बसहा धरि खाएत हे॥

नाचते समय चन्द्रमा का अमृत चूकर पृथ्वी पर गिरेगा। बघम्बर से इसका स्पर्श होने के कारण वह जीवित बाघ बन जायगा और मेरे वाहन बैल को पकड़ कर खा जायगा। द्वितीय

जटा सँ छिलकत गङ्गा धार बहि जाएत हे।
होएत सहस्र मुखधार समेटलो न जाएत हे॥

जटा से छिलक कर गंगाजल बहने लगेगा। इसकी असंख्य धाराएँ चारों ओर बहने लगेंगी। सम्हालना भी कठिन हो जायगा।

सिर सँ ससरत साँप धरनि महँ लोटत हे।
कार्तिक पोसल मयूर * से हो धरि खाएत हे।

---

*मोरपंख ये ही दरसावत, सर्पकाल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकि सुत गोपाल॥
याको तुम भजन करो।
देवतीर्थ काष्ठजिह्वा स्वामी॥

कृष्ण के सम्बन्ध में मोरपच्छ का जो सिद्धान्त है शङ्कर के आश्रम में मयूर की भी वही स्थिति है। सर्प सबने बला और भयङ्कर काल का सूचक है। यह भो ब्रह्म के

सिर से साँप गिर कर लोटने लगेगा। उसे छटपटाते देख कर कार्तिक का पोसा हुआ मयूर उसे पकड़ कर खा जायगा।

रुण्डमाल टुटि खसत मसान जगावत हे।
अहाँ गौरी जाएब पराय नाच के देखत हे॥

मुण्डमाला टूट जायगी और इसके मुण्ड चारों ओर बिखर जायँगे। सारा श्मशान जग उठेगा, जितने भूत, प्रेत, डाकिनी आदि अब तक जो शान्त पड़े हुए हैं वे सभी कोलाहल और उपद्रव करना आरम्भ कर देंगे। यह भयंकर दृश्य आपसे देखा न जायगा। आप तो स्वयं ही वहाँ से भाग जायँगी, फिर नाच कौन देखेगा।

भनहिँ विद्यापति गाओल गावि सुनाओल हे।
राखल गौरी के मान सदाशिव नाचल हे॥

विद्यापति कहते हैं कि मैंने गाया और गाकर लोगों को सुनाया भी कि सदाशिव ने गौरी के अनुरोध की रक्षा की और नृत्य दिखलाया। शंकर श्मशानालय-निवासी प्रेतों के समान विकट विघ्न बाधाओं के, सर्प, बैल, व्याघ्र, चन्द्र, मयूर आदि सभी प्रकार की अपनी सृष्टि के अधीश्वर हैं। अपनी सृष्टि में शान्ति और उपद्रव उनकी लीलाएँ हैं। उनकी इच्छा से ही शिव और अशिव दोनों प्रकार के नृत्य हुआ करते हैं। वे 'सदाशिव' हैं, सर्वदा कल्याणमय हैं। गौरी के सामने नृत्य के घोर रूप का वर्णन कर गृहिणी की प्रसन्नता के लिये उन्होंने मगंलमय नृत्य दिखलाया।

इससे पूर्व नृत्य के दार्शनिक रूप की हम चर्चा कर चुके हैं। नृत्य की दार्शनिक व्याख्या में हृदय को दहलाने और थर्राने वाली दार्शनिक कठोरता विद्यमान है। नृत्य का वह

विराट स्वरूप हमें अवाक् कर देता है, पर कवि के वर्णन में उस अद्‌भुत रस और प्रचण्ड कल्पना की कठोरता नहीं है। यहाँ एक साधारण गृहस्थ के घर का मामूली आँगन है। एक बैल बैठा है। बाघम्बर पड़ा हुआ है। चन्द्र की क्षीण किन्तु कोमल कला अपनी स्निग्धता फैला रही है। एक ओर मयूर चर रहा है, और दूसरी ओर सर्प अपना स्थान पाकर बैठा है। गृहिणी कहती है—"प्रभो, नृत्य दिखलाइये।" गृहस्वामी उन्हें इस क्रिया का परिणाम बताते हैं, पर इसके शान्तिपूर्वक निर्वाह करने की कला भी उन्हें मालूम है। इसलिये सुन्दर मगंलमय नृत्य करते हैं जिससे किसी प्रकार की अशान्ति नहीं होती। गृहिणी का भी मान रह जाता है। भाव और पद रचना की कोमलता सहृदय-गम्य है। पद के दो-एक बार पढ़ने से ही वह हृदय पर अधिकार कर लेता है।

शंकर का यह नृत्य हमारे नेत्रों के सामने हुआ करता है; आँख और हृदय नहीं रहने के कारण हम इसे न देख सकते हैं और न अनुभव कर सकते हैं। यह नृत्य अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान में * देखा था, दुर्योधन ने अपने सभामण्डप में देखा था, गोपियों ने वृन्दावन में देखा था † कौशल्या ने सूतिका गृह में और देवकी ने कारागृह में देखा था। आज भी जो जागे हुए हैं वे उस नृत्य का आह्वान करते हैं, अपने हृदय की सुप्त तन्त्रियों को जगाते हैं और उसकी तान और लय का अनुभव करते हैं।

जो शंकर के नृत्य का सिद्धान्त है वही रासनृत्य का भी सिद्धान्त है। शंकर के रूप में ब्रह्म के डमरू की आवाज से

योगमाया आकृष्ट होती है और कृष्ण के रूप में वंशी की ध्वनि से माया आकृष्ट होती हैं और असंख्य जीवात्मा गोपियों के रूप में उसके साथ नाचने लगते हैं। शंकरमूर्ति के नृत्य में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, लक्ष्मी, गन्धर्वादि सभी साथ देते हैं। कृष्ण रूप में उन लोगों के कार्य गोपियाँ ही करती हैं। शंकर के मंगलमय नृत्य में महान् की विशालता और हृदय को दहलानेवाले ब्रह्माण्ड का आडम्बर है, पर कृष्ण की मूर्ति के साथ कोमलता, सुन्दरता और हृदय को विह्वल करनेवाली व्याकुलता है। रास के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है—

> भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
> वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायानुपाश्रितः॥
>
> स्कन्ध १०, अध्याय २९-१

शरद् ऋतु की रात भगवान् को बहुत अच्छी लगी। देखा मल्लिका के फूल चारों ओर खिले हुए हैं। उनके मन में इच्छा हुई कि योगमाया के साथ विलास किया जाय। यही शंकर के नृत्य का भी रहस्य है। उस नृत्य में भी ब्रह्म का ही विलास है जिसमें माया साथ देती है। रास के सम्बन्ध में ही आगे चल कर शुकदेव मुनि कहते हैं—

> नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४
> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५
>
> भाग० स्कंध १०

"अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों की स्थिति के भी कारण भगवान् मनुष्यों के कल्याण के लिये कोई रूप धारण

करते है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, मित्रता आदि जिस किसी भी हृदय के विकार के द्वारा उस पर ध्यान जमाया जाय उसी रूप में उसमें तन्मयता प्राप्त हो जाती है।" रास के लिये आई हुई गोपियों को भगवान ने कहा कि "आप का धर्म पति पुत्रादि की सेवा है, आप घर जायँ।" उन लोगों ने विकल होकर उत्तर दिया—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग—
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥ ३२

"विभो, आप ऐसी कठोर वाणी का प्रयोग न करें। सभी विषयों का परित्याग कर (हृदय को श्मशान बना कर) हम आप की भक्ति कर रही हैं। इसलिये हमलोगों के प्रति आप अपना हठ परित्याग कर दें। हमलोगों पर आप वैसी ही कृपा करें जैसी मुमुक्षुओं पर आदिब्रह्म किया करते हैं। आप धर्मज्ञ हैं। आप ने कहा कि पति, अपत्य और सुहृदों की अनुवृत्ति करना तुम्हारा धर्म है। हे धर्मज्ञ, आप से हमारा यह प्रश्न है कि आप ही बताइये, आप शरीरधारियों के आत्मा और प्रियतम बन्धु हैं * अथवा नहीं।" यह काव्य की अलंकार वाली भाषा है। यदि अलंकार को छोड़ दिया जाय तो जीवात्माओं

और परमात्मा का, माया और ब्रह्म का रास-मण्डल आँखों के सामने घूमने लगता है। ताण्डव और रास एक ही वस्तु के दो नाम और रूप हैं। अपनी मनोवृत्ति के अनुसार जिसे जो अच्छा लगता है वह उसी को ग्रहण करता है।† विद्यापति ने रास का भी वर्णन किया है।

मधु ऋतु मधु कर पाँति।
मधुर कुसुम मधु माति॥
मधुर वृन्दावन माँझ।
मधुर मधुर रस राज॥
मधुर युवति गन संग।
मधुर मधुर रस रंग॥
सुमधुर यन्त्र रसाल।
मधुर मधुर कर ताल॥
मधुर नटन गति भङ्ग।
मधुर नटिनि नट सङ्ग॥
मधुर मधुर रस भान।
मधुर विद्यापति गान॥

इस पद की एक-एक पंक्ति के भाव पर ध्यान जमाने से इस पद की कोमलता, मधुरता और सुन्दरता का बोध होता है। मन में कभी-कभी सन्देह होता है कि रास यदि जीवात्मा-परमात्मा या माया ब्रह्म का विलास है तो इसमें केवल स्त्रियाँ ही क्यों भाग लेती हैं ? जीवात्मा को स्त्री रूप में देखना यह हृदय की अनुभूति पर आश्रित है। मन जब कोमलता के आश्रय को ढूढ़ता हुआ

---

† काया माहइँ खेलइ फ़ाग। काया मरहइँ सब बन बाग॥
काया माहइँ खेलइ रास। काया माहइँ विविध विलास॥

दादू।

हृदय के गम्भीरतम प्रदेश में प्रवेश करता है तो यह आप से आप स्त्रीत्व को ग्रहण करना चाहता है। इस विषय में न्यूमैन कहते हैं—

If this soul is to go on into higher spiritual blessedness, it must become a woman, yes, however manly you may be among man. †

"यदि जीव आत्मानन्द प्राप्त करता हुआ अग्रसर होता चला जाय तो इसे स्त्री बनना पड़ेगा, हां स्त्री,—मनुष्यों में चाहे यह कितना ही बड़ा मर्द क्यों न हो।" यही इसका रहस्य है। यही कारण है कि अपने को स्त्री माननेवाले कोमल भाव के उपासक अनेक भक्त और कवि वर्तमान युग में भी पाये जाते हैं।

इस समय यह कहना कठिन है कि रासनृत्य का प्रारम्भिक रूप क्या था। वर्तमान समय में इसका जो स्वरूप संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में मिलता है वह दर्शन शास्त्र के सिद्धान्तों पर और भक्तों की भावनाओं पर आश्रित है।

६—हिन्दी साहित्य में विद्यापति

तुलसी और सूर की तरह विद्यापति की ख्याति किसी विशेष ग्रन्थ पर आश्रित नहीं है। हिन्दी के अनेक कवियों की तरह अपनी स्फुट रचनाओं के कारण ही ये विख्यात हैं। ये रचनाएँ ललित और सरल हैं पर गम्भीर भावों से भरी हुई हैं। एक बार पढ़ लेने से ही वे हृदय पर अधिकार कर लेती हैं।

कवि ने प्रधानतः गीति काव्य की रचना की है। गान से ही इसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। जिस समय विद्यापति के पद गाये जाते हैं, मालूम होता है मधु-धारा बह रही है। ऐसे कोमल और चित्त को अभिभूत करनेवाले पद हिन्दी साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। शब्दलालित्य की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में कालिदास, भवभूति, माघ और श्रीहर्ष के रहते हुए भी जयदेव का जो स्थान है, सूर और तुलसी के रहते हुए भी विद्यापति का वही स्थान है।

रचना सौन्दर्य्य और भाव-गाम्भीर्य्य ही साहित्य के प्रधान अंग है। जिस रचना में भाव की जितनी प्रधानता रहती है, सत्य का जितना अधिक अंश रहता है वह उतना ही चिरस्थायी और लोककल्याणकारी होता है। मानव समाज उसका आदर भी उसी प्रकार करता है। किन्तु इसमें यदि रचना-सौन्दर्य्य

का अभाव हो तो यही गद्य का रूप धारण कर लेता है। जो दार्शनिक मनोवृत्ति वाले विचारवान् पुरुष हैं वे इसे समझ कर लाभ उठा सकते हैं, पर जन साधारण पर इसका उतना अधिकार नहीं रहता। मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है। भावसौन्दर्य्य के साथ-साथ वह रचनासौन्दर्य्य भी ढूँढ़ता है। भाव रचना का प्राण है। भाव के बिना सुन्दर रचना भी प्राणहीन शरीर की तरह चिरस्थायी नहीं हो सकती। विद्यापति की रचना में भाव गाम्भीर्य अर्थात् सत्यसमीक्षा और रचनासौन्दर्य्य, दोनों ही पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। इसलिये प्राच्य हिन्दी और अहिन्दी जनता पर सूर और तुलसी के समान इनका अधिकार है।

विद्यापति के पूर्व से ही भारतवर्ष में भक्ति का समुद्र लहरा रहा था, इस अमृतसागर में नाना प्रकार के असंख्य कमल प्रस्फुटित हुए, जिन में कबीर, मीरा, सूर, दादू और तुलसी की गणना होती है। विद्यापति इन्हीं में से एक थे। कबीर और दादू प्रभावशाली व्यक्ति थे। अपने उपदेश और रचना द्वारा इन्होंने कबीर पंथ और दादू पंथ नामक सम्प्रदाय की स्थापना कर दी। हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही ये प्रियपात्र थे। मीरा के व्यक्तित्व और रचना का विशेष प्रभाव राजस्थान पर और अंशतः अन्यान्य स्थानों पर पड़ा। भाव-प्रवणता के कारण हिन्दी साहित्य में इनका स्थान वहुत ऊँचा है। सूरदास के अवतार से व्रजमण्डल जगमगा उठा। साहित्य मन्दिर के आधार स्तम्भों में इनकी गणना है। तुलसी को पाकर सम्पूर्ण आर्यावर्त कृतार्थ हुआ। इस चिन्तामणि को पाकर आर्यभूमि ने जिस स्नेह से इसे हृदय में धारण किया वह नित्य नवीन होता चला जा रहा है। विद्यापति को पाकर आर्यावर्त का पूर्वभाग निहाल हुआ।

विश्वनाथपुरी के पश्चिम मीरा और सूर का नाम लेने से जिस प्रकार लोगों का चेहरा खिल उठता है, काशी के पूर्व विद्यापति का नाम लेने से लोगों की आँखें उसी तरह ज्योति से भर जाती हैं। हमें देखना है कि इन कवियों में विद्यापति का कौन-सा स्थान है।

हिन्दी साहित्य के केशव, बिहारी, भूषण आदि कविपुङ्गवों से विद्यापति की तुलना नहीं हो सकती। जिस समय ये अवतीर्ण हुए उस समय साहित्य-सरिता की भावधारा बदल गई थी। भाव के साथ ही साथ रचना-प्रणाली भी विभिन्न हो गई थी। भावप्रधान भक्ति का युग न था, वह था अलङ्कार-प्रधान मनोहर वाक्य रचना का युग। इसलिये इन कवियों की विद्यापति के साथ तुलना करना युक्ति-संगत नहीं है। विद्यापति, कबीर, मीरा, सूर, दादू और तुलसी एक ही युग की एक ही भावधारा के अनुगामी कवि हैं। इनका ही तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनकी तुलना में हिन्दी साहित्य का कोई भी कवि नहीं ठहर सकता। भारतीय साहित्य में इनकी तुलना केवल कालिदास से हो सकती है। किन्तु और कवियों से ये जितने श्रेष्ठ हैं कला की दृष्टि से कालिदास भी इनसे उतने ही बढ़े-चढ़े हैं। ऐसी अवस्था में भाव तथा युग साम्य रहने पर भी मैं इन्हें विद्यापति के साथ तुलनात्मक अध्ययन के बहिर्भूत समझता हूँ।

जनता पर तुलसीदास का जितना प्रभाव पड़ा उतना और किसी सन्त अथवा कवि का न पड़ सका। कबीर और दादू

ने अपने-अपने पन्थ भी चलाये पर ये गुसाईं जी से पीछे ही रहे। इस दृष्टि से गोसाईं जी के बाद विद्यापति का स्थान है। सम्पूर्ण उत्तर बिहार, दक्षिण बिहार का प्रधान भाग और सम्पूर्ण बंगप्रदेश विद्यापति के गान से गूँज उठा। बिहार में सूर, तुलसी और मीरा के पदों के साथ इनके पदों का प्रचार हुआ। इसलिये विहार में साहित्य-गगन के बड़े-बड़े नक्षत्रों के साथ ये अपना प्रकाश फैलाते रहे। पर बंगाल में उस समय कोई इतना बड़ा भक्तकवि नहीं था जो इनका समकक्ष होकर ठहरता। उस समय वहाँ—

Fair as a star when only one
Is shining in the sky

वाली इनकी स्थिति थी। इसलिये बंगाल की जनता में इनका इतना अधिक प्रचार हुआ जितना और किसी कवि का किसी दूसरे प्रदेश की जनता में कभी नहीं हुआ। इस हिसाब से हिन्दी साहित्य में विद्यापति का स्थान द्वितीय है।

महात्मा कवीरदास और दादूदयाल सन्त थे। इनका गार्हस्थ्य जीवन केवल नाममात्र का था। साधुओं की-सी वृत्ति और जीवनचर्य्या रहने के कारण ये पूर्ण वैरागी महात्मा थे। इनकी रचना में प्रत्यक्ष दर्शन और आत्म-अनुभव का बोध पग-पग पर होता है। इनकी रचना में भाव प्रधान है और रचना-सौष्ठव गौण वस्तु है। इनकी उक्ति पढ़ने से मालूम होता है कि भाव की प्रबलता से इनका हृदय व्याकुल था। उस व्याकुलता से छुटकारा पाने के लिये ये अपने भाव को जिस प्रकार पाते थे उसी प्रकार प्रकाशित करते थे। भाव का प्रकाश करना ही इनका

प्रधान उद्देश्य था। रचना अच्छी हुई वा नहीं, इसका अलङ्कार और रीति शुद्ध या स्पष्ट है वा नहीं, इसकी इन्हें कुछ परवाह नहीं। किन्तु विद्यापति विद्वान् और कवि थे। रीति, अलङ्कार, गुण, दोष आदि से पूर्णतः परिचित थे। राज-दरबार इनका निवास-स्थान था। इसलिये हृदय का माधुर्य्य, रचनासौष्ठव साङ्गोपाङ्ग साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हो उठता था। कबीर, दादू और मीरा की तरह हृदय की व्याकुलता इनमें वर्तमान थी और वह व्याकुलता विद्वत्ता के रस में डूब कर सुसिद्ध और सुसंयत होकर बाहर निकलती थी। जगत् की उत्पत्ति के विषय में कबीर लिखते हैं—

जीव रूप एक-अन्तर बासा। अन्बर ज्योति कीन परगासा।
इच्छा रूप नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारी के पुत तिन भयऊ। ब्रह्मा विष्णु शम्भु नाम धरेऊ।
तब ब्रह्मा पूछत महतारी। को तोर पुरुख काकर तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई। तुम मोर पुरुष हमें तोर जोई।

बाप पूत की नार एक एकै माय बिआय।
दिख्यो न पूत सपूत अस बापै चीन्है धाय।

दर्शन शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार यह सर्वथा विशुद्ध और निर्दोष वर्णन है। परलोक और काव्य की दृष्टि से यह दूषित और असत्कल्पना है। माँ को बेटे की स्त्री बनाना और फिर उसे बेटे और बाप दोनों की स्त्री बताना असंयत कल्पना का नमूना है। कबीर के ऐसे महात्मा ही ऐसी उद्दण्ड प्रतिभा से काम लेकर उसका निर्वाह भी कर सकते हैं, पर और कवियों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। कबीर संत थे, शाहों के भी शाह थे। किसी की उन्हें क्या परवाह थी। जो चाहते लिख सकते थे।

पर विद्यापति जिस समाज में रहते थे वह कबीरदास के समाज से भिन्न था। दरबार में विद्वानों का ठट्ठ रहता था। यदि ऐसा करने का साहस करते तो इनकी बड़ी हँसी होती। इसलिये विद्वत्समाज में विद्वान् के समान ही इनका आचरण होता था। इस प्रकार की उटपटांग उक्तियों द्वारा अपना उद्देश्य ये सिद्ध नहीं कर सकते थे।

दादू और कबीर साधक योगीश्वर और महात्मा थे। प्रत्यक्ष दर्शन का इन्हें साक्षात् अनुभव था। जिस आध्यात्मिक विषय का ये वर्णन करते हैं उस में पग-पग पर आत्म-अनुभव की छटा दिखाई पड़ती है। दादू लिखते हैं—

सूरज नहि तहँ सूरज देखा चांद नहीं तहां चन्दा।
तारे नहि तहँ झिलमिल देखा दादू अति आनन्दा।
बादल नहि तहँ बरसत देखा सबद नहीं गरजन्दा।
बीज नहीं तहँ चमकत देखा दादू परमानन्दा।
जोति चमक्कइ झिलमिले तेज पुंज परकास।
अमृत झरइ रस पीजिये अमर बेलि आकास॥

ब्रह्मानन्द का ऐसा दिव्य वर्णन कबीर की रचनाओं में भी नहीं पाया जाता। यह वह दृश्य है जिसे कवि अपनी आँखों देख रहा है। कल्पना से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रसंग पर अनेक अवसरों में विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही पीछे छूट जाते हैं।* पर प्रत्यक्ष दर्शन के सिवा भाव-

---

*अनेक साधकों का कहना है कि हृदय मे जब तक 'अहम्' या ईश्वर से भिन्नता का भाव रहता है तब तक दर्शन होता है पर जब पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तब केवल विरह वेदना हुआ करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही आगे निकल जाते हैं।

पर विद्यापति जिस समाज में रहते थे वह कबीरदास के समाज से भिन्न था। दरबार में विद्वानों का ठट्ठ रहता था। यदि ऐसा करने का साहस करते तो इनकी बड़ी हँसी होती। इसलिये विद्वत्समाज में विद्वान् के समान ही इनका आचरण होता था। इस प्रकार की उटपटांग उक्तियों द्वारा अपना उद्देश्य ये सिद्ध नहीं कर सकते थे।

दादू और कबीर साधक योगीश्वर और महात्मा थे। प्रत्यक्ष दर्शन का इन्हें साक्षात् अनुभव था। जिस आध्यात्मिक विषय का ये वर्णन करते हैं उस में पग-पग पर आत्म-अनुभव की छटा दिखाई पड़ती है। दादू लिखते हैं—

> सूरज नहिं तहँ सूरज देखा चांद नहीं तहां चन्दा।
> तारे नहि तहँ झिलमिल देखा दादू अति आनन्दा।
> बादल नहिं तहँ बरसत देखा सबद नहीं गरजन्दा।
> बीज नहीं तहँ चमकत देखा दादू परमानन्दा।
> जोति चमक्कइ झिलमिले तेज पुंज परकास।
> अमृत झरइ रस पीजिये अमर बेलि आकास॥

ब्रह्मानन्द का ऐसा दिव्य वर्णन कबीर की रचनाओं में भी नहीं पाया जाता। यह वह दृश्य है जिसे कवि अपनी आँखों देख रहा है। कल्पना से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रसंग पर अनेक अवसरों में विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही पीछे छूट जाते हैं।* पर प्रत्यक्ष दर्शन के सिवा भाव-

---

*अनेक साधकों का कहना है कि हृदय मे जब तक 'अहम्' या ईश्वर से भिन्नता का भाव रहता है तब तक दर्शन होता है पर जब पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तब केवल विरह वेदना हुआ करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही आगे निकल जाते हैं।

गाम्भीर्य और हृदय के अनुभव में ये किसी से कम नहीं ठहरते। 'विचारधारा' के अनेक अवतरणों से यह स्पष्ट है। यहाँ और दो-चार अवतरणों द्वारा इसकी विवेचना करने की हम चेष्टा करेंगे। आत्म-वियोग की व्याकुलता दादू इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

प्रिय आव हमारे रे, मिल प्रान पियारे रे,
बलि जाऊँ तुम्हारे रे।
सुन सखी सयानी रे, मैं सेवा न जानी रे,
हैं भई दिवानी रे।
सुन सखी सहेली रे, क्यों रहो अकेली रे,
है खरी दुलही रे।
हैं करहु पुकारा रे, सुन सिरजन हारा रे,
दादू दास तुम्हारा रे।

इसी भाव को विद्यापति इस प्रकार प्रकट करते हैं—

चानन भेल बिखम सर रे, भूखन भेल भारी।
सपनहुँ हरि नहिं आएल रे, गोकुल गिरधारी।
एकसर ठाढ़ि कदम तर रे, पथ हेरति मुरारी।
हरि बिनु देह दगध भेल रे, झामरु भेल सारी।
जाहु जाहु तोहिं ऊधव हे, तोहिं मधुपुर जा हे।
चन्द्रबदनि नहिं जीउति हे, बध लागत काहे।
भनहिं विद्यापति तनमनदै, सुनु गुनमति नारि।
आजु आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झटझारि।

दोनों ही कवि के हृदय में विरह है, वियोग है, व्याकुलता है, अधीरता है, किन्तु वर्णन-शैली में आकाश-पाताल का अन्तर है।

पर विद्यापति जिस समाज में रहते थे वह कबीरदास के समाज से भिन्न था। दरबार में विद्वानों का ठट्ठ रहता था। यदि ऐसा करने का साहस करते तो इनकी बड़ी हँसी होती। इसलिये विद्वत्समाज में विद्वान् के समान ही इनका आचरण होता था। इस प्रकार की उटपटांग उक्तियों द्वारा अपना उद्देश्य ये सिद्ध नहीं कर सकते थे।

दादू और कबीर साधक योगीश्वर और महात्मा थे। प्रत्यक्ष दर्शन का इन्हें साक्षात् अनुभव था। जिस आध्यात्मिक विषय का ये वर्णन करते हैं उस में पग-पग पर आत्म-अनुभव की छटा दिखाई पड़ती है। दादू लिखते हैं—

> सूरज नहिं तहँ सूरज देखा चांद नहीं तहां चन्दा।
> तारे नहि तहँ झिलमिल देखा दादू अति आनन्दा।
> बादल नहिं तहँ बरसत देखा सबद नहीं गरजन्दा।
> बीज नहीं तहँ चमकत देखा दादू परमानन्दा।
> जोति चमक्कइ झिलमिले तेज पुंज परकास।
> अमृत झरइ रस पीजिये अमर बेलि आकास॥

ब्रह्मानन्द का ऐसा दिव्य वर्णन कबीर की रचनाओं में भी नहीं पाया जाता। यह वह दृश्य है जिसे कवि अपनी आँखों देख रहा है। कल्पना से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रसंग पर अनेक अवसरों में विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही पीछे छूट जाते हैं।* पर प्रत्यक्ष दर्शन के सिवा भाव-

---

*अनेक साधकों का कहना है कि हृदय में जब तक 'अहम्' या ईश्वर से भिन्नता का भाव रहता है तब तक दर्शन होता है पर जब पूर्ण तादात्म्य हो जाता हैं तब केवल विरह वेदना हुआ करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यापति कबीर और दादू दोनों से ही आगे निकल जाते हैं।

गाम्भीर्य और हृदय के अनुभव में ये किसी से कम नहीं ठहरते। 'विचारधारा' के अनेक अवतरणों से यह स्पष्ट है। यहाँ और दो-चार अवतरणों द्वारा इसकी विवेचना करने की हम चेष्टा करेंगे। आत्म-वियोग की व्याकुलता दादू इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

प्रिय आव हमारे रे, मिल प्रान पियारे रे,
बलि जाऊँ तुम्हारे रे।
सुन सखी सयानी रे, मैं सेवा न जानी रे,
हैं भई दिवानी रे।
सुन सखी सहेली रे, क्यों रहो अकेली रे,
है खरी दुलही रे।
हैं करहु पुकारा रे, सुन सिरजन हारा रे,
दादू दास तुम्हारा रे।

इसी भाव को विद्यापति इस प्रकार प्रकट करते हैं—

चानन भेल बिखम सर रे, भूखन भेल भारी।
सपनहुँ हरि नहिं आएल रे, गोकुल गिरधारी।
एकसर ठाढ़ि कदम तर रे, पथ हेरति मुरारी।
हरि बिनु देह दगध भेल रे, झामरु भेल सारी।
जाहु जाहु तोहें ऊधव हे, तोहें मधुपुर जा हे।
चन्द्रबदनि नहिं जीउति हे, बध लागत काहे।
भनहिं विद्यापति तनमनदै, सुनु गुनमति नारि।
आजु आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झटझारि।

दोनों ही कवि के हृदय में विरह है, वियोग है, व्याकुलता है, अधीरता है, किन्तु वर्णन-शैली में आकाश-पाताल का अन्तर है।

कबीर लिखते हैं—

करता एक और सब बाजी। ना कोई पीर मसायख काजी।
बाजी ब्रह्मा विष्णु महेशा। बाजी इन्दर चन्द गनेसा।
बाजी बरनों इसमृति वेदा। बाजीगर का लखै न भेदा।
बाजी का यह सकल पसारा। बाजी मांहि रहे संसारा।
कह कबीर सब बाजी माहीं। बाजीगर को चीन्है नाहीं

इसी भाव को विद्यापति इस प्रकार प्रकट करते हैं—

कत चतुरानन मरि मरि जाएत न तुश्र आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना॥

दादू लिखते हैं—

अजहुँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैन गँवाइ भोर।
अवध गये अबहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुर विरहिनि जइसहि चंद चकोर।

यहाँ दादू के प्रियतम मथुरा के बदले अवध* जाते हैं। इसी भाव का विद्यापति का पद इस प्रकार है—

लोचन धाए फेधाएल हरि नहिं आएल रे।
शिव शिव जिवओ न जाए आसें अरुझाएल रे।
मन करि तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
प्रेम परसमनि जानि आनि डर लाइअ रे।
सपनहुँ सङ्गम पाओल रङ्ग बढ़ाओल रे।
से मोर बिहि बिघटाओल निन्दओ हेराएल रे।

*अवध का अर्थ अवधि भी हो सकता है।

भनहिं विद्यापति गाओल धनि धइरज्ञ कर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालमु पुरत मनोरथ रे।

कबीर कहते हैं—

कैसे दिन कटिहैं जतन बताए जाइयो।

एहि पार गंगा वोही पार जमुना, बिचवां मँड़इआ हमकाँ छवाए जइयो।
अँचरा फारिके कागद बनाइन, अपनी सुरतिया हियरे लिखाए जइयो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बहियाँ पकरिके रहिया बताए जइयो।

विद्यापति का पद है—

के पतिया लए जाएत रे मोर प्रियतम पास।
हिय नहिं सहए असह दुख रे भेल साओन मास।
एकसरि भवन पिया बिनु रे मोरा रहलो न जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे जग के पतियाय।
मोर मन हरि हरि लए गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तेजि मधुपुर बसु रे कत अपजस लेल।
विद्यापति कवि गाओल रे धनि धरु पिय आस।
आओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास॥

कबीर की बोली बनारसी है, विद्यापति की मैथिली। दोनों ही पद लगभग ग्रामीण की तरह सरल भाषा में लिखे गए हैं। दोनों की ही मिठास अनुपमेय है, इतना रहने पर भी विद्यापति के पद से जो सङ्गीत की उन्मत्त तथा विह्वल कर देने वाली स्वर-लहरी उठ रही है महात्मा कबीर के पद में इसका अभाव है। रचना में सङ्गीतमयी कोमलता कहीं बाहर से नहीं आती। यह संगीतमय हृदय का स्थूल प्रतिरूप है। कबीर महात्मा-कवि हैं, किन्तु विद्यापति कवि-महात्मा हैं।

दादू का एक पद है—

दरसन दे दरसन दे हौं तो तेरी मुकुति न मांगौं रे।
सिधि न मांगौं रिधि न मांगौं, तुम्ह ही मांगौं गोविन्दा।
जोग न मांगौ भोग न मांगौं तुम्ह ही मांगौं राम जी।
घर नहिँ मांगौं बर नहिँ मांगौं तुम्ह ही मांगौं देव जी।
दादू तुम्ह बिन और न जाने दरसन मांगै देहु जी।

इसी भाव का विद्यापति का पद इस प्रकार है—

माधव तोंहें जनु जाह विदेसे।
हमरो रङ्ग रभस लए जइबह लइबह कोन सनेसे।
बनहिँ गमन करु होएत दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहिँ मांगब फेरि मांगब पहु तोरा।
जखन गमन करु नयन नीर भरु देखियो न भेल पहु ओरा।
एकहि नगर बसि पहु भेल परबस कइसे पुरत मन मोरा।
पर सँग कामिनि बहुत सोहागिनि चन्द्र निकट जइसे तारा।
भनहिं विद्यापति सुनु बरजौमति अपन हृदय धरु सारा।

हम कह चुके हैं कि कबीर, दादू और मीरा महात्मा हैं। जिस किसी तरह से हृदय की वेदना को व्यक्त करना ही इनका उद्देश्य है। इसलिये अपनी रचना में ये अभिधावृत्ति से अधिक काम लेते हैं। जो कुछ कहना रहता है स्पष्ट शब्दों में कह डालते हैं। अपने साधु-समाज और भक्त जनता से इन्हें इसी में शाबाशी मिलती है, पर विद्यापति एक सावधान कवि हैं। अपने सङ्गीतमय हृदय को सङ्गीतमय भाषा में व्यक्त करते हुए भी श्रेष्ठ कविकर्म ये कदापि नहीं भूलते। इसलिये अपनी रचना में ये व्यञ्जनावृत्ति से ही काम लेते हैं। अपनी रचना के अलङ्कार को आदि से अन्त तक अक्षुण्ण रख कर अन्त में प्रधान भाव

का जरा-सा इशारा कर देते हैं। उत्तम व्यंग्य काव्य की रचना के कारण मिथिला राजदरबार का शिष्ट विद्वत्समाज तथा कविगण इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इनके व्यंग्य काव्य का गूढ़ रहस्य सब की समझ में नहीं आता। केवल कुछ चुने हुए लोग इसे समझते हैं और यही कवि के हृदय को सन्तोष देने के लिये पर्याप्त है। जो इस रहस्य को नहीं समझते वे समझते हैं कि ये कामुक चित्त-वृत्ति के थे और अपने कामुक संरक्षकों की तृप्ति के लिये रचना किया करते थे। किन्तु इनके सहमार्गी सन्तों के पदों के साथ इनके पदों को पढ़ने से यह भ्रम दूर हो जाता है।

उपर्युक्त दादू और विद्यापति के पदो में यही सिद्धान्त है। दादू ने अपने पद में 'मुकुति', 'गोविन्दा', 'रामजी' 'देवजी', 'दरसन' आदि शब्दों का प्रयोग कर अपने भाव को स्पष्ट किया है पर विद्यापति अपने पद के आरम्भ में केवल एकवार 'माधव' पद का प्रयोग करते हैं। बीच में कुछ भी चर्चा नहीं करते। अन्त में इशारा करते हैं कि—

अपन हृदय धरु सारा

अपने हृदय में सार को—परमतत्त्व को धारण करो।

कबीर लिखते हैं—

पिया मिलन की आस रहौ कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।
पांव नहीं ठहराय चढूँ गिर गिर परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ तुम्हारि चरन आगे धरूँ।
अंग अंग थहराय तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ।

बारी निपट अनारि तो झीनी गेल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है।
छोरो कुमति विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु शब्द सम्हारि चरन चित दीजिये।
अन्तर पट दे खोज़ चन्द उर लावरी।
दिल बिच दास कबीर मिलें तोहि बावरी।

अब जरा विद्यापति के एक पद को इसके साथ मिला कर पढ़िये—

सुन्दरि चलिलिहु पहु घरना। चहु दिस सखि सब कर धर ना।
जइत लागु परम डर ना। जइसे ससि काँप राहु डर ना।
जाइतहि हार टुटिए गेल ना। भूखन वसन मलिन भेल ना।
रोए रोए काजर दहाए देल ना। अदकँहि सिन्दुर मेटाए गेल ना।
भनहिं विद्यापति गाओल ना। दुख सहि सहि सुख पाओल ना।

कबीरदास ने अपने पद में जिस भाव को इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

पांव नहीं ठहराय चहूँ गिर गिर परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरण आगे धरूँ।
अंग अंग थहराय तो बहु विधि डरि रहूँ।

उसी को विद्यापति ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

जइतहुँ लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।

किन्तु कबीर ने 'करम कपट'. 'कुमति विकार', 'सतगुरु', 'सब्द' आदि शब्दों का प्रयोग कर अपने सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है। विद्यापति के पद में ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल अन्त में ये कहते हैं—

दुख सहि सहि सुख पाओल ना।

यहाँ दुःख सहन का अर्थ आध्यात्मिक साधना है। इसी को कबीर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऊँचे नहिँ चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।

विद्यापति ने 'भूखन बसन' की मलिनता और काजल तथा सिन्दूर के विकार का वर्णन किया है। कबीर ने इसी भाव का वर्णन एक पद में इस प्रकार किया है—

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया।
पांच तत्त कै बनी चुनरिया सोरह सै बन्द लागे जिया।
यह चुनरी मोरे मैके ते आई ससुरे में मनुआं खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै ज्ञान के साबुन लाय पिया।
कहत कबीर दाग तब छुटिहैं जब साइब अपनाय लिया।

इनकी व्यञ्जनावृत्ति के उदाहरण स्वरूप हम इन पदों को ले सकते हैं :—

कुंजभवन सओं चलि भेलि हे रोकल गिरिधारी।
एकहिं नगर बसु माधव हे जनु कर बटवारी।
छाडु कन्हैया मोर आंचर हे फाटत नव सारी।
अपजस होएत जगत भरि हे जनु करिअ उघारि।
सङ्क सखि अगुआइलि हे हम एकसरि नारि।
दामिनि आए तुलाएल हे एक राति अन्हारी।
भनहिं विद्यापति गाओल हे सुनु गुनमंति नारि।
हरिक संग किछु डर नहिं हे तोहे परम गमारी।

इस पद में "एकहि पलंग पर कान्ह रे। मोर लेख दुर देश भान रे।" की तरह "एकहिं नगर" का अर्थ है 'शरीर'। इसके बाद कवि प्रेम-कलह के स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ अग्रसर होता है। केवल अन्त में जाकर कहता है—

हरिक संग किछु डर नहिं हे तोहें परम गमारी।

'अरे, जीव, यदि भगवान् पर भरोसा करने पर भी तुझे संसार का डर मालूम हो तो अवश्य तू बड़ा भारी गंवार है।' इसी भाव को तुलसीदास ओजस्विनी भाषा में भगवान् रामचंद्र के मुख से कहलाते हैं।

सुमिरहु मोहि डरहु जनि काहू।

इसी वृत्ति का विद्यापति का एक दूसरा पद इस प्रकार है—

*करधय करु मोहि पारे, देव न अपरूब हारे, कन्हैया।
सखि सभ तेजि चलि गेली, न जानू कोन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे, जाएब औघट घाटे, कन्हैया।
विद्यापति एहो भाने, गुंजरि भजु भगवाने, कन्हैया।

पद के आरम्भ में भक्त हृदय की प्रार्थना "करधय करु मोहि पारे" से व्यक्त है। इसके बाद प्रेम कलह का रूपक है। अन्त में कवि कहता है "गुंजरि भजु भगवाने" "ऐ चतुर जीव भगवान को भज"। इसी भाव को दादूदयाल अभिधा-वृत्ति में प्रकट करते हैं जिससे भक्त और भगवान् की उक्ति के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता। दादू कहते हैं—

---

*इस पद के अर्थ के विषय में श्रीयुत नगेन्द्रनाथ गुप्त लिखते हैं—

"इस पद की विशद व्याख्या इस प्रकार है। राधा किसी स्रोत वा अल्प जलवाले ताल के निकट उपस्थित हैं, साथ में कोई भी सखी नहीं है। माधव को देख कर उन्होंने कहा कि मैं खड़ी हूँ, सखियाँ मुझे छोड़ किस राह से चली गईं यह मुझे नहीं मालूम। इस जल के पार होने में मुझे डर लगता है, मेरा हाथ पकड़ कर आप मुझे पार कर दें। पुरस्कार-स्वरूप आपको मैं अपूर्व हार दूँगी। उन्हें पार कर माधव ने उनका हाथ न छोड़ा, तब राधा ने क्रोध में आकर कहा कि मैं तुम्हारे निकट वा तुम्हारे साथ न जाऊंगी, जिस रास्ते से कोई नहीं चलता उसी औघट घाट से मैं जाऊँगी। कवि कहते हैं—सुन्दरि, गूंज-गूंज कर भगवान् का भजन करो। (संकेतार्थ)

निरँजन काइर कँपइ प्रानियाँ, देखियहु दरिया।
वारपार सूझइ नहीं, मन मेरा डरिया।
अति अथाह भव जाला, अउ संग नाहीं आवइ।
देखि देखि डरपई घना, प्रानी दुख पावइ।
विख जल भरिया सागर, सब थके सयाना।
तुम्ह बिन कहु कइ सइ तरौं, मैं मूढ़ अयाना।
आगइ ही डरपइ घना, मेरी का कहिये।
कर गहि काढ़हु केसवा, पार तो लहिये।
एक भरोसा तोर हइ, जो तुम्ह होहु दयाला।
दादू कहु कइसइ तरइ, तूँ तार गोपाला।

विद्यापति के "कर धय करु मोहि पारे" और दादू के "कर गहि काढ़हु केसवा पार तो लहिये" में केवल वृत्ति का भेद है, भाव एक ही है।

राधा ने जब माधव को हाथ पकड़ने को कहा तो उन्होंने आत्म-समर्पण किया क्योंकि पर-पुरुष के द्वारा पर-स्त्री का हस्त धारण करना निषिद्ध है, फिर जब राधा ने अपना कण्ठहार माधव को देना स्वीकार किया तो मन ही मन उन्हे पतिरूप से वरण किया। सखियाँ दूसरे रास्ते से चली गई हैं, उन लोगो के साथ भेट होने की सम्भावना नहीं है, इसका भी पूरा-पूरा संकेत हो गया। इसके बाद राधा ने इशारे से कहा—यहाँ लोगों का आवागमन है, मुझे न पुकारना अथवा मेरे निकट न आना। जिस रास्ते से कोई नहीं चलता उसी रास्ते से जाऊँगा, तुम उसी स्थान पर आना। कवि कहते हैं—हे सुन्दरि, मन मे दुविधा न लाओ। मधुकरी की तरह गूंज-गूंज कर भगवान् (माधव) का भजन करो। माधव तुम को पालेंगे और तुम्हे भी भगवत्प्राप्ति होगी।

सभी पदों के इसी प्रकार प्रत्यक्ष और गूढ़ दो प्रकार के अर्थ होते हैं, किन्तु द्वितीय प्रकार के अर्थ इस संकलन के उद्देश्य के बहिर्भूत हैं। केवल दृष्टान्त-स्वरूप इस एक पद का द्विविध अर्थ दिखलाया गया।"

कबीर, दादू, सूर और तुलसी जिस विचार-प्रवाह की धाराएँ हैं, विद्यापति भी

एक तीसरा पद यों है—

नाव डोलाव अहीरे, जिवइते न पाओब तीरे,
खरनीरे लो।
खेव न लेअए मोले, हसि हसि कीदहुँ बोले,
जिव डोले लो।
कके ? बके ऐलिहु आपे, बेढ़लिहुँ मोहि बड़ सापे,
मोरे पापे लो।
करितिहुँ पर उपहासे, परिलिहु तहि विधि फाँसे,
नहि आसे लो।
न बूझसि अबुझ गोआरी, भजि रहु देव मुरारी,
नहि गारी लो।
कवि विद्यापति भाने, नृप सिव सिंह सब जाने,
नर कान्हे लो।

इस पद के और दादू दयाल के उपर्युक्त पद के भाव और भाषा में नाम मात्र का अन्तर है। कवि अभिधा-वृत्ति का आश्रय लेकर स्पष्ट शब्दों में कहता है कि भगवान् के चरणों में मैं जाना चाहता हूँ—अभिसार करना चाहता हूँ। अभिसारिका के पैर में सर्प लिपटता है, पर मेरा पाप ही मेरे पैर का सर्प है जो भगवत्प्राप्ति में बाधक है। नाव डोलाने वाला अहीर अपना चंचल मन है। 'अबुझ गोआरी' है अज्ञानोपहत जीव। गिरिधर दास की कुंडलियों को इस पद के साथ मिला कर पढ़ने से भाव स्पष्ट हो जाता है।

उसी के एक स्रोत हैं। उत्तर भारत के इन सन्तों की विचारधाराओं से दूर रहने के कारण गुप्त महोदय विद्यापति की वाणी के रहस्य को समझ कर भी नहीं समझ रहे हैं।

नैया मोरी तनिक सी बोझी पाथर भार।
चहुँ दिसि अति भौंरें उठत केवट है मतवार।
केवट है मतवार नाव मंझ धारहिं आनी।
आँधी बहै प्रचण्ड ताहु पर बरसत पानी।
कह गिरिधर कविराय नाथ हो तुमहि खेवैया।
उठै दया को डांड़ घाट पर आवै नैया।

इस प्रकार का और अधिक उदाहरण देना निरर्थक है। सहृदय पाठक इस पुस्तक के साथ संगृहीत कतिपय पदों को पढ़ कर इस सिद्धान्त के तथ्य को समझ सकेंगे।

विद्यापति और इन सन्त कवियों की रचना में एक और अन्तर है। ये सन्त वैरागी महात्मा थे और आश्रमों में निवास करते थे। गार्हस्थ्य-जीवन से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध वा परिचय नहीं था। जीव और ब्रह्म के स्त्री-पुरुष वाले रूप को ये कल्पना की दृष्टि से देखते थे। पति-पत्नी के हास-विलासादि की जीवित भावना इनके हृदय में वर्तमान नहीं थी। इसलिये इनके पद केवल कल्पना जगत के निर्जीव दृश्य उत्पन्न कर सकते हैं। गार्हस्थ्य-जीवन की यथार्थता की दृष्टि से ये बहुत कमजोर हैं। किन्तु विद्यापति गृहस्थ थे। गृहस्थ की भावनाओं का अनुभव करते थे। इसलिये जब जीवात्मा और परमात्मा के स्त्री-पुरुष वाले रूप का ये वर्णन करने लगते हैं तो हमारी प्रति दिन की भावनाओं का जीता-जागता चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है और अनुभूति की एक-एक तन्त्री काँपने लगती है। जो तत्वज्ञानी इन पदों के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करने की चेष्टा करता है वह विकल और विह्वल हुए बिना रह नहीं सकता। यही कारण है कि चैतन्य महाप्रभु इनके पदों को

पढ़ते-पढ़ते मूर्छित हो जाते थे। गीता के ग्यारहवें अध्याय के काव्य को पढ़ कर दार्शनिकों की जो दशा होती है इनके पदों को पढ़ कर मुमुक्षु भक्तों की भी वही दशा होती है।

मालूम होता है कि विद्यापति अपने पदों की इस कमजोरी को समझते थे। वे देख रहे थे कि जन-साधारण उनके भाव को नहीं समझ रहा है। उनके भाव को केवल वे ही समझ सकते थे जो उनकी संगति में रहते थे अथवा भक्ति के रहस्य को समझते थे। इनके पदों की अन्तिम पंक्तियों से यही भाव प्रकट होता है। इन्हें इस बात का सन्तोष है कि राजा शिव सिंह, लखिमा देवी के समान विदुषी स्त्री* और अन्यान्य कुछ सज्जन इनके भाव को समझते हैं। अपने पदों के अन्त में इनकी कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"रसमय विद्यापति कवि भान।
रूप नरायन भूपति जान।"

'भनहिं विद्यापति शिवसिंह भूपति लखिमा देइ परमान।'

"भन विद्यापति सुनु रमापति सकल गुण निधान।
जे ई पदक अर्थ लगावथि से जन बड़ सयान।"

"बुझइ सकल रस नरपति सिवसिंह लखिमा देई कर कन्त रे।"

"विद्यापति कवि गाओल रे बूझए रसवन्त।
देव सिंह नृप नागर रे हासिनि देई कन्त॥'

"भन विद्यापति कवि कंठहार।
रस बुझ सिव सिंह नृप महोदार।"

---

* राजा शिवसिंह की राजमहिषी लखिमा दाइ वा लखिमा ठकुराइन बड़ी विदुषी स्त्री थीं। कहा जाता है कि एक बार एक पण्डित विधवा विवाह का प्रचार करने निकले। काशी के दरबार से भी उन्हें इस बात की व्यवस्था मिल गई। वहाँ से ये मिथिला के दरबार में आये और व्यवस्था की प्रार्थना की। राजा कुछ निश्चित उत्तर

"भनहिं विद्यापति जिनु हरड़ावह नाह न हियरा लाग ।
दूती* वचन थीर कै मानब राय सिव सिह बड़ भाग ।"

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि इनके भाव में प्रवेश करने की शक्ति बहुत-से लोगों में उस समय भी नहीं थी ।

अनेक स्थलों पर कवि दादू और कबीर की तरह स्पष्ट-वादी बन जाते हैं । उनकी उन पंक्तियों को पढ़ने से उनकी सच्ची भावना समझ में आ जाती है । एक जगह लिखते हैं—

अपनहिं नागरि अपनहिं दूत ।
से अभिसार न जान बहूत ।

न दे सके । उन्होंने कहा कि लखिमा देवी आप की व्यवस्था देगी । राजमहिषी को खबर दी गई । उन्होंने कहा पण्डितजी को मेरे पास भेज दीजिये । पण्डितजी के रहने का बन्दोबस्त हो गया । खाने-पीने की सामग्रियो के साथ एक बछड़ा भी भेज दिया गया । उसे मार कर खाने की बात सुनते हो पण्डितजी घबड़ाये और वहाँ से चलते बने । बड़ी चतुरता से रानी ने उन्हे समझा दिया कि देश, काल और पात्र के अनुसार शास्त्र भी अपनी मर्यादा स्थिर करता है ।

कहा जाता है कि एक बार एक पण्डित लखिमा ठकुराइन की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर इनसे शास्त्रार्थ करने आया । एक तालाब के किनारे उन्होने डेरा डाला । राजमहिषी के मन मे कौतुक हुआ कि चलो, चल कर देखे वह पण्डित कैसा है । दासियों का-सा वस्त्र पहन कर और कमर पर एक घड़ा लेकर वे चल पड़ीं । तालाब के किनारे पण्डित पूजा करने बैठे थे । एक स्त्री को अपनी ओर ताकते देख कर उन्होने कहा—

किं मां निरोक्षसि घटेन कटिस्थितेन ।
वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन ।
अन्यं निरीक्ष पुरुषं तव भाग्ययोग्यं ।
नाहं घटाङ्कितकटिं प्रमदां भजामि (स्पृशामि) ॥

*दूती—सद्गुरु ।

की फल तेसर कान जनाए।
आनब नागर नयन बभाए।

स्वयं ही गुरु और शिष्य दोनों का काम करना और अपने हृदय की भावना और साधना (अभिसार) द्वारा ब्रह्मप्राप्ति करना बहुतों को मालूम नहीं है। जहां-तहां इसकी चर्चा करने की क्या आवश्यकता है ? यदि हृदय में व्याकुलता है तो अपने प्रेम और भक्ति से अपने आराध्य देव को अवश्य पालूँगा इत्यादि। एक पद के अन्त में आप लिखते हैं—

भन विद्यापति अकथ कथा,
ई रस केओ केओ जान।
राजा सिवसिंह रूप नरायन,
लखिमा देई रमान।

सुन्दरि, कमर पर घड़ा रख सुन्दर अर्द्धस्फुट नेत्रों से मेरी ओर क्यों देख रही हो। अपने लायक किसी और पुरुष को देखो। कमर पर घड़ा रखने वाली औरत मुझे पसन्द नहीं।

लखिमा देवी ने उत्तर दिया—

सत्यं ब्रवीमि मकरध्वजबाणपीड
नाहं त्वदर्पित दृशा परिचिन्तयामि।
दासोऽद्य मे विघटितस्तव तुल्यरूपा (पः)
सोऽयम्भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥

हे कन्दर्प के बाण से पीड़ित, मैं सच कह रही हूँ कि तुम्हारी ओर देखने में मैं तुम्हारी बात जरा भी नहीं सोच रही हूँ। आज मेरा एक नौकर भाग गया है जो देखने में तुम्हारे ही ऐसा था। मैं तुम्हें देख कर यही सोच रही हूँ कि तुम वही हो अथवा नहीं। श्लोक की भाषा बड़ी ही सरल और स्वाभाविक बोलचाल की है।

इस प्रकार लखिमा ठकुराइन, की प्रशंसा सर्वत्र मैथिल समाज में सुनने में आती है।

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि इनकी 'अकथ कथा' और अन्य कवियों की 'अकथ कहानी' में केवल उक्ति-भेद है, वस्तु-भेद नहीं।

सूरदास और विद्यापति

भक्त कवियों में सूरदास और विद्यापति में ही सबसे अधिक समता है। सूरदास के ग्रन्थों से ही मालूम होता है कि अपने जीवन के आरम्भ काल में ये सद्गृहस्थ रहे होंगे। माता के वात्सल्य प्रेम और बच्चों की निरीह तथा चपल लीलाओं का इन्होंने जैसा वर्णन किया है वैसा कोई कवि न कर सका। दोनों ही प्रतिभावान, विद्वान् और विशाल कल्पना वाले थे। दोनों ने पदों में ही रचना की है। दोनों के बहुत से पद ऐसे हैं जो एक दूसरे के बिम्ब-प्रतिबिम्ब से मालूम होते हैं। सूर का प्रसिद्ध पद है—

अदभुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कञ्ज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ताहू पर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुस चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर एक मनिवर नाग।
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग॥

विद्यापति लिखते हैं—

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिह आनि समारल, देखलि नैन सरूपे।
पल्लवराज * चरण जुग सोभित गति गजराजक भाने।

* कमल

कनक केदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तइँ नहिं कमल मुखाई।
अधर बिम्ब सन दसन दाड़िम बिजु रवि ससि उगथि कपासे।
राहु दूरि बसु निअरो न आवथि तइँ नहि करथि गरासे।
सारंग नयन बचन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने।
भनहिं विद्यापति सुन बरजौमति एहन जगत नहिं आने।
राजा सिव सिंह रूपनरायन लखिमा देइ प्रतिभाने॥

दोनों पद के छन्द और भाव भी एक ही से हैं। दोनों का ही वर्णन अपूर्व है। किन्तु इस वर्णन में अनेक अंश में विद्यापति सूरदास से श्रेष्ठ मालूम होते हैं। सूर का पद है—

जुगुल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।

कमलवन में गज का क्रीड़ा करना स्वाभाविक और सुन्दर है। दोनों चरण ही दो कमल हैं। उनके ऊपर दो हाथियों का घूमना-फिरना अच्छा नहीं मालूम होता। यदि 'गजवर' से हाथी के सूंड़ का ग्रहण किया जाय तो इसके द्वारा कमल का स्पर्श होना निःसन्देह अच्छा लगता है। इस सूंड़ के ऊपर सिंह प्रेमपूर्वक बैठा हुआ है।

विद्यापति लिखते हैं —

पल्लवराज चरण जुग सोभित गति गजराजक भाने।
कनक केदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

"जुगल कमल" और 'पल्लवराज चरण जुग" में विद्यापति की रचना सूरदास से सुन्दर है। जंघा के लिये कनक कदली की कल्पना भी हाथी के सूंड़ की कल्पना से अवश्य सुन्दर है।

सूर की पंक्ति में 'गजवर' शब्द से यह स्पष्ट नहीं मालूम होता कि इससे नायिका की गति अपेक्षित है अथवा जंघा। विद्यापति ने 'गति गजराजक' लिख कर इस सन्देह को दूर कर दिया है। एक दूसरे पद में कवि ने चरणों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

'कमल जुगल पर चांदक माल। तापर उपजल तरुण तमाल।'
चाँद की माला नखपंक्ति है।

सूर के पद में है—"गिरिपरफूले कंज पराग।" विद्यापति लिखते हैं—"मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।" सूर ने गिरि के ऊपर कमल के साधारण विकास का वर्णन किया है किन्तु विद्यापति ने कमल में नाल का अभाव बताकर इसी कल्पना को सुन्दर बना दिया है।

सूर की पंक्ति है—

हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरिपर फूले कंज पराग।

इसमें ह्रस्व स्वर का प्रयोग और इकार की बहुलता पद को ललित बना देती है। बाहरी सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन है।

विद्यापति की पंक्ति है—

मनिमय धार हार बहु सुरसरि तइँ नहिँ कमल सुखाई।

इसका कोमल बंध सूर की पंक्ति से किसी प्रकार कम नहीं है। इसकी विशेषता है कि बाहरी सौन्दर्य्य के सिवा यह कमल के नहीं सूखने के कारण की कल्पना कर आन्तरिक सौन्दर्य्य का भी विकास करता है।

ऐसे पदों को आलोचक गण 'नख शिख' कहा करते हैं। इस पद-रचना का क्या अर्थ है? सूरदास के ऐसे परम भक्त भी

इस तरह कच-कुच और नाभि-जंघा का वर्णन करते हैं। इस से मालूम होता है कि इसका अवश्य कोई रहस्य है। इस रहस्य की ओर विद्यापति अपने एक पद में संकेत करते हैं। वह पद यों है—

साजनि अकथ कही न जाए।*

अचल अरुण ससि गण केर मण्डल भीतर रहए नुकाए।
कवली ऊपर केसरि देखल केसरि मेरु चढ़ला।
ताही उपर निसाकर देखल फेर ता उपर बइसला।
कीर ऊपर कुरङ्गिनि देखल चकित भमए जनी।
कीर कुरङ्गिनि ऊपर देखल भमर ऊपर फनी।
एक असम्भव अउर देखल जल बिना अरबिन्दा।
वेवि सरोरुह ऊपर देखल जइसन दूतिअ चन्दा।
भन विद्यापति अकथ कथा ई रस केओ केओ जान।
राजा सिव सिंह रूपनरायन लखिमा देइ समान।

अन्तिम दो पंक्तियों का मिथिला में प्रचलित पाठान्तर यों है—

भन विद्यापति सुनु रमापति सकल गुन निधान।
जे ई पदक अर्थ लगावथि से जन बड़ सेयान।

यह पद 'कीर्तनानन्द' में भी पाया जाता है।

यह सूरदास के "अद्‌भुत एक अनूपम बाग" की तरह ही है, किन्तु इसके आरम्भ और अन्त में 'अकथ कथा' की चर्चा की गई है और यह कहा गया है कि "ई रस केओ केओ जान"

---

* विद्यापति। नगेन्द्रनाथ गुप्त। पृष्ठ ११२, पद संख्या १८३। इस पद की पंक्ति में मूल ग्रन्थ में 'ससिक मण्डल' है। इससे छन्द टूटता है; हमने उसे 'ससिगण केर मण्डल' बना दिया है।

यह रस कोई-कोई समझते हैं। इससे बोध होता है कि इसका कोई रहस्यमय अर्थ है। मालूम होता है कि इसी 'अकथ कथा' के रहस्य का तुलसी दास ने उत्तरकाण्ड में अपनी निर्दोष और स्पष्ट भाषा में उद्घाटन किया है।

सुनहु तात वह अकथ कहानी। समुझत बनै न जात बखानी।
ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी।
सो मायावश भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। यदपि मृषा छूटत कठिनई।
तब तें जीव भयउ संसारी। ग्रन्थि न छूट न होय सुखारी।
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।
जीव हृदय तम मोह विशेखी। ग्रन्थि छूट किमि परै न देखी।
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुराण निगम आगम वद।
राम भजत सो मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआई।
जिमि जल बिनु थल रहि न सकाई। कोटि भांति कोउ करै उपाई।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भक्ति बिहाई।
अस विचारि हरि भक्त सयाने। मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।

उस युग के साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री रूप में जीव का यह काल्पनिक वर्णन है और अपने पद की अन्तिम पंक्ति

सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग।

और

भन विद्यापति सुन वर नारि। धैरज धए रहु मिलत मुरारि।

तथा

विद्यापति कह अजप भागि नह धनि धनि तुम्र नव नेहा।

द्वारा सूरदास और विद्यापति प्रभु के अनुग्रह की ओर संकेत करते हैं। इसी भाव को तुलसीदास

तन आभरन बसन भेल भार
नयन बहै जल निर्मल धार

में और भी गम्भीर बन जाती है।

बाह्य प्रकृति के वर्णन करने में भी दोनों महाकवि अद्वितीय हैं। सूर का पद है—

उनै उनै बरसतु गिरि ऊपर धार अखण्डित नीर।
अन्ध धुन्ध अम्बरतें गिरि पर, मानौ परत बज्र के तीर।
चमकि चमकि चपला चकचौंधति स्याम कहत मनधीर।

विद्यापति लिखते हैं—

बरिस पयोधर धरनि वारि भरि रैनि महाभय भीमा।

अथवा

झम्पि घन गरजन्ति सन्तति भुवन भरि बरसन्तिया।
कन्त पाहुन काम दारुन, सघन खरशर हन्तिया।
कुलिस कत सत पात मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जाएत छातिया।
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि अथिर बिजुरिक पातिया।
विद्यापति कह कैसे गमाओब हरि बिना दिन रातिया।

किन्तु वर्षावर्णन में जब सूर मघवा और गिरिधर के संग्राम का वर्णन करते हैं—

घटा घनघोर घहरात अररात दरात सरात ब्रज लोग डरपे।
तड़ित आघात तरात उतपात सुनि नारिनर सकुचि तनु प्रान अरपे।

तो विद्यापति की पंक्तियाँ

तरल तर तरवारि रंगे बिज्जु दाम छटा तरंगे।
घोर घन संघात बारिस काल दरसेओ रे।

भाव और रचना की दृष्टि से अधिक सुन्दर मालूम पड़ती हैं। सूर अभिधा का आश्रय लेकर 'तरात' से जिस भाव को प्रकट करते हैं वही भाव विद्यापति 'तरल तर तरवारि' में 'तर' को तीन बार दोहरा कर प्रकट कर देते हैं। सूर की 'घटा घन घोर' इत्यादि सम्पूर्ण पंक्ति से जिस शक्ति से जो भाव प्रकट होता है विद्यापति के 'घोर घन संघात' से ही उतनी शक्ति के साथ वही भाव प्रकट होता है। विद्यापति की इन समताओं या श्रेष्टताओं के रहते हुए भी जब सूर के ग्रन्थों में हम मातृ-वात्सल्य का वर्णन इन पंक्तियों में देखते हैं—

मोहन नेक बदन तन हेरो।

राखौ मोहि नात जननी को मदन गुपाल लाल मुख फेरो।
पाछे चढ़ो विमान मनोहर, बहुरो जदुपति होत अँधेरो।

अथवा हृदय की अधीरता का वर्णन इन पंक्तियों में पढ़ते हैं—

मधुकर इतनी कहियहु जाइ।

अति कृषगात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत दोउ आँखें हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीनो सूँघत सोई ठाउँ॥
परति पछार खाइ छिनही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु सूर काढ़ि डारी है बारि मध्य ते मीन॥

अथवा जब रौद्र रस का वर्णन इन पंक्तियों में देखते हैं—

सिन्धुतट उतरत राम उदार।
रोष विषम कीनो रघुनन्दन सब विपरीत विचार॥

सागर पर गिरि, गिरि पर अम्बर, कपि घन पर आकार।
गरज किलक आघात उठत मनु दामिनि पावक झार ॥
परत फिराइ पयोनिधि भीतर सरिता उलटि बढ़ाई।
मनु रघुपति भयभीत सिन्धु पत्नी प्योसार पठाई ॥

अथवा जब प्रकृति के भयानक सौन्दर्य का वर्णन इन पंक्तियों में देखते हैं—

ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि, दसहुँ दिसा कहुँ पार न पाइ।
झरहरात बन पात गिरत तरु धरनी तरकि तड़ाकि सुनाइ ॥
लटकि जात जरि जरि द्रुम बेलो पटकत बांस कांस कुस ताल।
उचटत झर अंगार गगन लौं सूर निरखि ब्रज जन बेहाल ॥

तो विद्यापति में इसका नितान्त अभाव पाते हैं।

सूर और विद्यापति की परिस्थिति भी भिन्न थी। सूर उन्मुक्त अचल के समान हैं। किसी आधार व अवलम्ब पर इनकी स्थिति नहीं है। स्वयंभू अथवा स्वयंसिद्धि की तरह इनकी स्वयं स्थिति है। न किसी को प्रसन्न करने की चिन्ता है और न किसी की निन्दा वा प्रशंसा की। अपनी मस्ती में पड़े हुए हैं। हृदय हिलता है और संकेत लहरी उठने लगती है।

इनका विराट व्यक्तित्व प्रशान्त-गम्भीर मुद्रा से संसार पर दृष्टि निक्षेप कर रहा है। इसकी ज्योति में सभी शान्ति और आनन्द लाभ करते हैं। विद्यापति का आधार समाज और राज दरबार है और इनका अवलम्ब मित्र मण्डल और विशाल किन्तु विशुद्ध हृदय है जिसका आश्रय लेकर ये पूजावसान काल में पद रचना किया करते हैं। यदि सूरदास के समान विस्तृत कार्य-क्षेत्र में किसी कथानक को अपनी रचना का आधार बना

कर ये अपनी प्रतिभा और कल्पना को खेलने देते तो यह निर्णय करना कठिन होता कि सूर बड़े हैं अथवा विद्यापति। इस प्रकार विवेचना कर हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम स्थान है तुलसीदास का, द्वितीय है सूरदास का और तृतीय स्थान विद्यापति का है।

विद्यापति शृंगार-प्रधान भावुक भक्त कवि हैं। अन्तः-सलिला सरिता के समान शृंगार की बालुकाराशि से आवृत रहने पर भी ये सर्वदा सुन्दर, सरस और शीतल हैं।

कुछ चुने हुए पद

साधारण रहस्यवाद

वा

सन्तमत के पद

१

सुनु रसिया ।

आब न बजाउ विपिन बसिया ॥

बार बार चरणारविन्द गहि सदा रहब बनि दसिया ।

कि छलहुँ कि होएब से के जानए वृथा होएत कुल हसिया ।

अनुभव ऐसन मदन भुजङ्गम हृदय हमर गेल डसिया ।

नन्द नन्दन तुअ सरन न त्यागब बनु जनु अहाँ दुरजसिया ।

विद्यापति कह सुनु बनितामनि तोरे मुखे जीतल ससिया ।

धन्य धन्य तोरे भाग गोआलिनि हरिभजु हृदय हुलसिया ।

२

हरि हरि बिलपि बिलापिनि रे, लोचन जलधारा ।

तिमिर चिकुर घन पसरल रे, जनि बिजुलि अकारा ।

नील बसन तन बाँधल रे, उर मोतिक हारा ।

सजल जलद कत झाँपब रे, डग मग करु तारा ।

उठि उठि खसग कत योगिनि रे, बिछिया जुग जाती।
पवन पलट पुनि आओत रे, जनि भादब राती।
यामिनि सभकें बरननि रे, बिरहिन थिक वामा।
सभसएँ बड़ थिक अनुभव रे, धीरज धरु रामा।

३

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे गरवा मोति हार।
राति जखनि भिनुसरबा रे पिया आएल हमार।
कर कौसल कर कपइत रे हरबा उर टार।
कर पङ्कज उर थपइत रे मुखचन्द निहार।
केहनि अभागिनि बैरिनि रे भागलि मोर निन्द।
भल कए नहिं देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द।
विद्यापति कवि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाय तरुवर फर रे केतक सिचु नीर।

४

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिह आनि समारल, देखलि नैन सरूपे।
पल्लवराज चरण जुग सोभित गति गजराजक भाने।
कनक केदलि पर सिंह समारल, तापर मेरु समाने॥
मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तइँ नहिं कमल सुखाई॥
अधर बिम्ब सन दसन दाड़िम बिजु रवि ससि उगथि पासे।
राहु दूरि बसु निअरो न आवथि तइँ नहिं करथि गरासे।
सारँग नयन बचन पुन सारँग सारँग तसु समधाने॥
सारँग उपर उगल दस सारँग केलि करथि मधुपाने।
भनहिं विद्यापति सुन बरजौमति एहन जगत नहिं आने॥
राजा सिव सिंह रुप नारायन लखिमा देइ प्रति भाने।

५

कुञ्जभवन सओं चलि भेलि हे रोकल गिरधारी ।
एकहिं नगर बसु माधव हे जनुकर बटवारी ॥
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर हे फाटत नव सारी ।
अपजस होएत जगतभरि हे जनु करिअ उघारी ॥
संगक सखि अगुआइलि हे हम एकसरि नारी ।
दामिनि आए तुलाएल हे एक राति अन्हारी ॥
भनहिं विद्यापति गाओल हे सुनु गुनमति नारी ।
हरिक संग किछु डर नहिं हे तोहें परम गमारी ॥

६

करधय करु मोहि पारे । देव मैं अपरुप हारे । कन्हैया ॥
सखि सभ तेजि चलि गेली । न जानू कोन पथ भेली । कन्हैया ॥
हम न जाएव तुअ पासे । जाएव औघट घाटे । कन्हैया ॥
विद्यापति एहो भाने । गुंजरि भगवाने । कन्हैया ॥

७

तुअ गुन गौरव सील सोभाव । से हे लए चढ़लिहु तोहरे नाव ॥
हठ न करअ कन्ह कर मोहि पार । सब तह बड़ धिक पर उपकार ॥
आइलि सखि सब साथ हमार । से सब भेलि निकहि विधि पार ॥
हमरा भेल कन्ह तोहरेउ आस । जे अँगिरिअ से न होइअ उदास ।
भल मन्द जानि करिअ परिनाम । जस अपजस दुइ रह गए ठाम ।
हम अवला कत कहब अनेक । आइति पड़ले बुझिअ विवेक ॥
तोहें परनागर हमे परनारि । काँप हृदय तुअ प्रकृति विचारि ॥
भनइ विद्यापति गावे । राजा सिवसिंह रुपनारायन इ रस सकल से पावे ॥

८

नाव डोलाव अहीरे, जिवइते न पाओव तीरे, खर नीरे लो ।
खेव न लेअए मोले, हसि-हसि की दहुँ बोले, जिव डोले लो ॥

कके विके ऐलिहु आपे, वेढ़लिहु मोहि बड़ सापे, मोर पापे लो ।
करितहुँ पर उपहासे, परिलिहुँ तहि विधि फाँसे नहि आसे लो ॥
न बूझसि अबुझ गोआरी, भजि रहु देव मुरारी, नहि गारी लो ।
कवि विद्यापति भाने, नृप सिवसिंह रस जाने, नर कान्हे लो ॥

९

गगन गरजि घनघोर (हे सखि) कखन आओत पहु मोर ।
उगलन्हि पांचो बान (हे सखि) अब न बचत मोर प्रान ॥
करब कओन परकार (हे सखि) जौबन भेल जिव काल ।
भनहि विद्यापति भान (हे सखि) पुरुष करहिं परमान ॥

१०

मधुपुर गेल भगवान (हे सखि) हुन बिन त्यागब प्रान ।
हुनका के करै आन (हे सखि) अपने चतुर सेआन ॥
मधु मिसरी पकवान (हे सखि) खैले तित मिठ जान ।
भन विद्यापति रूप (हे सखि) मानुख जनम अनूप ॥

११

मोहन मधुपुर बास (हे सखि) हमहुँ जाएब तनि पास ।
रखलन्हि कुबजाक नेह (हे सखि) तेजलन्हि हमरो सनेह ॥
कत दिन ताकब बाट (हे सखि) रटला जमुना के घाट ।
ओतहि रहथु हग फेरि (हे सखि) दरसन देथु एक बेरि ॥
मनहिं विद्यापति रूप (हे सखि) मानुख जनम अनूप ॥

१२

माधव तोंहें जनु जाह बिदेसे ।
हमरो रंग रभस लए जइवह लइबह कोन सनेसे ॥

---

* द्ढ

बनहिँ गमन करु होएति दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा ।
हीरा मनि मानिक एको नहिँ माँगब फेरि माँगब पहु तोरा ।
जखन गमन करु नयन नीर भरु देखिओ न भेल पहु ओरा ।
एकहि नगर वसि पहु भेल परबस कइसे पुरत मन मोरा ।।
पहु संग कामिनी बहुत सोहागिनि चन्द्र निकट जइसे तारा ।
भनहिं विद्यापति सुनु वरजौमति अपन हृदय धरु सारा ।।

१३

लोचन धाए फेधाएल हरि नहिं आएल रे ।
शिव शिव जिवओ न जाए आसें अरुझाएल रे ।।
मन करि तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे ।
प्रेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे ।
सपनहुँ सङ्गम पाओल रङ्ग बढ़ाओल रे ।
से मोर विहि विघटाओल निन्दओ हेराएल रे ।।
भनहिं विद्यापति गाओल धनि धइरज कर रे ।
अचिरे मिलत तोहि बालमु† पुरत मनोरथ रे ।।

१४

के पतिया लए जाएत रे मोर पियतम पास ।
हिय नहि सहए असह दुख रे भेल साओन मास ।।
एकसरि भवन पिया विनु रे मोरा रहलो न जाय ।
सखि अनकर दुःख दारुन रे जग के पतियाय ।।
मोर मन हरि हरि लए गेल रे अपनो मन गेल ।
गोकुल तेजि मधुपुर वस रे कत अपजस लेल ।।
विद्यापति कवि गाओल रे धनि धरु पिअ आस ।
आओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास ।।

---

† बालम्भु

१५

तोहें जलघर सहजहिं जलराज। हमें चातक जलबिन्दुक काज।
जल दए जलद जीव मोर राख। अवसर देले सहस हो लाख।
तनु देअ चाँद राहु कर पान। कबहु कला नहिं होअ मलान।
वैभव गेले रहए विवेक। तइसन पुरुष लाख थिक एक।
भनइ विद्यापति, दूती से। दुइ मन मेल करावए जे।

१६

जुगल सैल सिम हिमकर देखल एक कमल दुई जोति रे।
फुललि मधुर फुल सिन्दुर लोटाएल पाँति बइसलि गजमोति रे।
आज देखल जत के पतिआएत अपरुब विहि निरमान रे
विपरित कनक कदलि तर सोभित थल पंकज के रूप रे।
तथहुँ मनोहर बाजन बाजए जनि जागे मनसिज भूप रे।
भनइ विद्यापति एहु पूरब पुन तह ऐसनि भजए रस मन्त रे॥
बूझए सकल रस नृप सिवसिंघ लखिमा देइकर कन्त रे।

१७

जाइति देखलि पथ नागरि सजनि गे आगरि सुबुधि सेआनि।
कनक लता सनि सुन्दर सजनि गे बिह निरमाओल आनि॥
हस्तिगमन जकाँ चलइति सजनि गे देखइति राजकुमारि।
जनिकर एहन सोहागिनि सजनि गे पाओल पदारथ चारि॥
नील वसन तन घेरलि सजनि गे सिरदेल चिकुर समारि*।
तापर भमरा पिबए रस सजनि गे बइसल† पाँखि पसारि॥
केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे लोचन अम्बुज धारि।
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे गुन पाओल अवधारि॥

---

* ससारि † पइसल

१८

ए सखि कि देखल एक अपरूप । सुनइते मानबि सपन सरुप ।
कमल जुगल पर चाँदक माल । तापर उपजल तरुण तमाल ॥
तापर बेढ़ल बिजुरि लता । कालिन्दी तीर धीर चलि जता ।
साखा सिखर सुधाकर पांति । ताहि नव पालब अरुनक भांति ॥
बिमल बिंबफल जुगल बिकास । तापर कीर थीर करु बास ।
तापर चञ्चल खञ्जन जोड़ । तापर साँपिनि झाँपल मोड़ ॥
ए सखि रङ्गिनि कहल निसान । पुन हेरइते हम हरल गेआन ।
भनइ विद्यापति इह रसभान । सुपुरुख मरम तुहू भल जान ॥

१९

कि कहब हे सखि कानुक रुप । के पतियाएत सपन सरूप ।
अभिनव जलधर सुन्दर देह । पीत बसन पर दामिनि रेह ॥
सामर झामर कुटिलहिं केश । काजरे साजल मदन सुबेश ।
जातकि केतकि कुसुम सुबास । फुलशर मन्मथ तेजल तरास ।
विद्यापति कह कि कहब आर । सून करल विह मदन भंडार ।

२०

मोरहि रे अँगना चनन केरि गछिआ ताहि चढ़ि कुररए काक रे ।
सोने चोंचु बँधाए देव मयँ बायस जओं पिया आओत आज रे ।
गावत सखि सब झूमर लोरी मयन अराधन जाऊँ रे ।
चओ दिसि चम्पा मओली फूलिलि चान उजोरिया राति रे ।
कइसे कए मोयँ मयन अराधव होइति बड़ि रति साति रे ।
विद्यापति कवि गाबए आरे तोंके अछ गुनक निधान रे ।
राउ भोगीसर गुन नागर रे पदमा देवि रमान रे ।

२१

सुन्दरि चलिलिह पहु घर ना । चहु दिस सखि सब कर धर ना ।
जाइतहुँ लागु परम डर ना । जइसे ससि काँप राहु डर ना ।

जाइतहि हार टुटिए गेल ना । भूखन वसन मलिन भेल ना ।
रोए रोए काजर दहाए देल ना । अदकँहि सिन्दुर मेटाए गेल ना ।
भनहिं विद्यापति गाओल ना । दुख सहि सहि सुख पाओल ना ।

२२

सखि हे कि पुछसि अनुभव मोय ।
से हो पिरीति अनुराग बखानइत तिल तिल नूतन होय ।
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल ।
से हो मधुर बोल श्रवनहिँ सूनल श्रुतिपथे परस न गेल ।
कत मधु यामिनि रभसे गमाओल न बुझल केहन केल ।
लाख लाख युग हिय हिय राखल तइयो हिया जुड़ल न गेल ।
कत विदगध जन रस अनुमोदइ अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत मिलय कोटि में एक ।

२३

कि कहब हे सखि आनन्द ओर । चिर दिन माधव मन्दिर मोर ।
पाप सुधाकर जत दुख देला । पिय मुख दरसन तत सुख भेला ।
आँचर भरि जँ बड़ निधि पाव । तउ हम पिअ दुर देस न पठाव ।
सीतक ओढ़नि ग्रीस्मक वायु । वरषक छत्र पिअ दुर जनि जाउ ।
भन विद्यापति सुन बर नारि । सुजनक दुःख दिवस दुइ चारि ।

२४

हे हरि हे हरि सुनिय श्रवन भरि अब न बिलासक बेरा ।
गगन नकत छल सेहो अवकत भेल कोकिल करइछि फेरा ।
चकवा मोर सोर कय चुप भेल ओठ मलिन भेल चन्दा ।
नगरक धेनु डगर कैँ संचर कुमुदिनी बसु मकरंदा ।
मुख केर पान से हो रे मलिन भेल अवसर भल नहि मंदा ।
विद्यापति कह इहो न निक थिक जग भरि करइछि निन्दा ।

२५

माधव करिअ सुमुखि समधाने ।
तुअ अभिसार कएलि जत सुन्दरि कामिनि करए के आने ।
बरिस पयोधर धरनि वारि भर रएनि महाभय भीमा ।
तइओ चललि धनि तुअ गुन मन गुनि तसु साहस नहिं सीमा ।
देखि भवन भिति लिखल भुजगपति जसु मन परम तरासे ।
से सुवदनि कर झपइत फनि मनि बिहुसि आइलि तुअ पासे ।
निअ पहु परिहरि आइलि कमल मुखि परिहरि निअ कुल गारी* ।
तुअ अनुराग मधुर मंद मातलि किछु न गुनलि वरनारी ।
ई रस रसिक विनोदक विन्दक सुकवि विद्यापति गावे ।
काम प्रेम दुहु एक मत भए रहु कखने की न करावे ।

२६

कुसुम बान विलास कानन केस सुन्दर रेह ।
निविल नीरद रुचिर दरसए अरुन जनि निअ देह ।
आज देखु गजराज गति वर जुवति त्रिभुवन सार ।
जनि कामदेवक विजयवल्ली विहलि विहि संसार ।
सरस ससधर सरिस सुन्दर वदन लोचन लोल ।
विमल कञ्चन कमल चढ़ि जनि खेलु खञ्जन जोल ।
अधर पल्लव नव मनोहर दसन दालिम जोति ।
जनि विमल विद्रुम दल सुधारस सीचि धरु गजमोति ।
मत्त कोकिल वेनु वीनानाद त्रिभुवन आम ।
मधुर हास पसाहि आनलि करए वचन विलास ।
अमर भूधर सम पयोधर महघ मोतिम हार ।
जनि हेम निम्मित सम्भु सेखर गंग निम्मल धार ।

---

*पाठान्तर—निअ पहु परिहरि सँतरि विखम नरि अँगिरि महाकुल गारी ।

करभ कोमल कर सुसोभित जङ्घ जुअ आरम्भ ।
मदन मल्ल वेश्राम कारने गढ़ल हाटक थम्भ ।
सुकवि एहो कण्ठहार गाओल रूप सकल सरूप ।
देवि लखिमा कन्त जानए राज सिव सिंह भूप ।

२७

माधव जाइति देखलि पथ रामा ।
अबला अरुण तरा गन बेढ़लि चिकुर चामरु अनुपामा ।
जलनिधि सुत सन बदन सोहाओन सिखर बीज रद पाँती ।
कनकलता जनि फड़ल सिरीफल वीह रचल बहु भाँती ।
अजेआ सुत रिपु बाहन जेहन ता सनँ चलु जिमि राही ।
सागर गरह साजि वर कामिनि चललि भवन पति ताही ।
खगपति तनय तासि रिपु तनया ता गति जेहन समाने ।
हरबाहन तें हि हेरइते हेरलन्हि कवि विद्यापति भाने ।

२८

बड़ जन जकर पिरीति रे । कोपहुँ न तजए रीति रे ।
काग कोइल एक जाति रे । भेम भमर एक भाँति रे ।
हेम हरदि कत बीच रे । गुनहि बुझिए उँच नीच रे ।
मनि कादब लपटाए रे । तैं कि तनिक गुन जाए रे ।
विद्यापति अबधान रे । सुपुरुख न कर निदान रे ।

२९

माधब हमर रटल दुर देस । केओ न कहए सखि कुशल संदेस ।
जुग-जुग जिबथु बसथु लख कोस । हमर अभाग हुनक कोन दोस ।
हमर करम भेल बिह बिपरीत । तेजलन्हि माधब पुरबिल पिरीत ।
हृदयक वेदन बान समान । आनक दुःख आन नहिं जान ।
भनहिँ विद्यापति कवि जयराम । कि करत नाह दैब भेल बाम ।

३०

चानन भेल बिखम सर रे भूखन भेल भारी ।
सपनहुँ हरि नहिं आएल रे गोकुल गिरधारी ॥
एकसर ठाढ़ि कदम तर रे पथ हेरति मुरारी ।
हरि बिनु देह दगध भेल रे झामरु भेल सारी ॥
जाहु जाहु तोहें ऊधब हे तोहें मधुपुर जाहे ।
चन्द बदनि नहिं जीउति रे बध लागत काहे ।
भनहिं विद्यापति तन मन दे सुनु गुनमंति नारि ।
आजु आओत हरि गोकुल रे पथ चलु झट झारि ॥

३१

कानन कान्ह कान हम सुनल भै गेल आनक आने ॥
हेरइति शंकर रिपु मोहि हरलन्हि कि कहब तनिक गेआने ॥
सात पाँच हम लीखि पठाओल बहु बिधि लिखलि बनाई ॥
से पुनि नाथ पाँच कै रखलन्हि दुई फेरि देलन्हि मेटाई ।
चानन चान आँग हम लेपलि तैं बादल अति दापे ।
अधरक लोभ सँ बिखधर ससरल धरै चाह फेरि सापे ।
मनहिं विद्यापति दुहुक मुदित मन मधुकर लोभित केली ।
असह सहथि कत कोमल कामिनि जामिनि जिव दय गेली ॥

३२

माधब कि कहब ताही । तुअ गुन लुबुधि मुगुध भेलि राही ।
मलिन बसन तनु चीरे । करतल कमल नयन ढरु नीरे ।
उर पर सामरि बेनी । कमल कोष जनि कारि लगेनी ।
केओ सखि ताकए निसासें । केओ नलिनी दल करय बतासे ॥
केओ बोल आएल हरि । ससरि उठलि चिर नाम सुमरि ।
विद्यापति कवि गावे । विरह वेदन निअ सखि समुझावे ॥

३३

माधव जाए केवाड़ छोड़ाओल, जाहि मन्दिर वसु राधा।
चीर उघारि अधर मुख हेरल, चान उगल छथि आवा।
चीर करपूर पान हम बासलि, अउर साँठल पकमाने।
सगर रैनि हम बैसि गमाओलि, खंडित भेल मोर माने।
मथुरा नगर अटकि हम रहलहुँ, किए न पठाओल दूती।
मानिक एक मानिक दस पथरल, ओतहि रहल पहु सूती।
कमल नयन कमलापति चुम्बित, कुंभकरण सम दापे।
हरिक चरण धै गावथि विद्यापति राधाकृष्ण विलापे।

३४

करतल लीन सोभए मुखचन्द। किसलय मिलु अभिनव अरविन्द।
अह निसि गरए नयन जल धार। खञ्जन गिलि उगिलत मोतिहार।
कि करति ससि मुखि कि बोलति आन। विनु अपराध विमुख भेल कान।
विरह विखिन तनु भेलि हरास। कुसुम सुखाय रहल अछि वास।
झखइति संसय पड़ल परान। कबहु न उपसम करु पचवान।
भन विद्यापति सुन बर नारि। धैरज धए रहु मिलत मुरारि।

३५

आजु रजनि हम भागे पोहायनु पेखनु पिय मुखचन्दा।
जीवन योवन सफल कए माननु दस दिस भो निरद्वन्दा।
आजु हम गेह गेह करि माननु आजु मोर देह भेल देहा।
आजु विही मोर अनुकुल होएल टुटल सबहु संदेहा।
सोइ कोकिल अब लाखहि डाकउ लाख उदय करु चन्दा।
पांच बान अब लाख बान हनु मलय पवन बहु मन्दा।
अब सन जबहु मोह परि होएत तबहु मानव निज देहा।
विद्यापति कह अलप भागि नह धनि धनि तुअ नव नेहा।

३६

साँझहिं निअ मुख प्रेम पिआए। कमलिनि भमरा राखल छिपाए।
सेज भेल परिमल फुल भेला बास। कतए भमर मोर परल उपास।
भमि भमि भमरि बालमु निज खोज। मधु पिवि मधुकर सुतल सरोज।
नइ फुल कहेस नइ टगइ न सूरे। सिनेहो न जाय जोक सञ्ओँ मोरे।
केओ न कहे सखि बालमु बात। रइनि समागम भए गेल प्रात।
भनहिं विद्यापति सुन ए भमरी। बालमु अछि तोर अपनहिं नगरी।

३७

ससनपरस ससु अम्बर रे देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे जनि बिजुरी रेह।
आज देखल धनि जाइत रे मोहि उपजल रङ्ग।
कनकलता जनि सञ्चर रे महि निर अवलम्ब।
ता पुन अपरुप देखल रे कुच जुग अरबिन्द।
बिगसित नहिं किछु कारन रे सोझा मुखचन्द।
विद्यापति कवि गाओल रे रस बुझ रसमन्त।
देवसिंह नृप नागर रे हासिनि देइ कन्त।

३८

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
इ भर बादर माह भादव शून्य मन्दिर मोर।
झंपि घन गरजन्ति सन्तति भुवन भरि बरसन्तिया।
कन्त पाहुन, काम दारुन, सघन खर शर हन्तिया।
कुलिश कत सत पात मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया।
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैसे गमाओब हरि बिना दिन रातिया।

वसन्त वर्णन

३९

नाचहुरे तरुनी तेजहु लाज । आएल वसन्त ऋतु वनिकराज ।
हस्तिनि चित्रिनि पदुमिनि नारि । गोरि सामरि एक बूढ़ि नारि ।
विविध भाँति कैलन्हि सिंगार । पहिरन पटोर गिम फूल हार ।
केउ अगर चन्दन घसि भरि कटोर । ककरहुँ खोंइछा कपुर तँवोर ।
केउ कुङ्कुम मरदाव आँग । ककरहु मोतिआ भल छाज माँग ।

४०

मलयानिले साहर डार डोल । कल कोकिल रवे मअन बोल ।
हेमन्त हरन्ता दुहुक मान । भमि भमैर करए मकरन्द पान ।
रङ्ग लागए ऋतु वसन्त । सानन्दित तरुणी अवरु कन्त ।
सारङ्गिनि कउतुके कामकेलि । माधव नागरि जन मेलि मेलि ।

४१

चल देखने जाउ ऋतु वसन्त । जहाँ कुन्द कुसुम केतकि हसन्त ।
जहाँ चन्दा निरमल भमर कार । रयनि उजागरि दिन अन्धार ।
मुगुधलि माननि करए मान । परिपन्तिहि पेखए पञ्चबान ।
भनइ सरस कवि कण्ठहार । मधुसूदन राधा बन विहार ।

४२

ऋतुराज आज विराज हे सखि नागरि जन बन्दिते ।
नवरङ्ग नवदल देखि उपवन सहज शोभित कुसुमिते ।
आरे कुसुमित कानन कोकिल साद । मुनिहुँक मानस उपजु विसाद ।
आयल उनमद समय वसन्त । दारुन मदन निकारुण कन्त ।
अति मत्त मधुकर मधुर रवकर मालती मधु सञ्चिते ।
समय कन्त उदन्त नहिं किछु हमहि विधि बस वञ्चिते ।

वञ्चित नागर सेह संसार। एहि ऋतुपति सौँ न कर विहार।
अति हार भार मनोद मारय चन्द रवि सखि भान ए।
पुरुब पाप सन्ताप जतहो मन मनोभव जान ए।
जारय मनसिज मार सर साधि। चानन देह चौगुन हो बाधि।
सवे बाधि आधि बेआधि जाइति करिय धैरज कामिनी।
सुग्हु मन्दिर तोरित आभीत सुफले जाइति जामिनि।

जामिनि सुफले जाइति अवसान।
धैरज धरु विद्यापति भान॥

४३

फुल्ल कुसुम नव कुंज कुटिर बन कोकिल पञ्चम गावे रे।
मलयानिल हिम सिखर सिधारल पिया निज देश न आवे रे।
चनन चान तन अधिक उतापए उपवन अलि उतरोले रे।
समय वसन्त कन्त रहु दुर देस जानल विधि प्रतिकूले रे।
अनमिख नयन नाह मुख निरखैत तिरपित न भेल नयाने रे।
ई सुख समय सहए एत संकट अबला कठिन पराने रे।
दिन दिन खिन तनु हिम कमलिनि जनि न जानि कि जिब परजंत रे।
विद्यापति कह धिक् धिक् जीवन माधव निकरुन कन्त रे।

४४

॥ प्रहेलिका ॥

कुसुमित कानन कुंजबसी। नयनक काजर घोर मसी।
नखसों लिखलि नलिन दल पात। लीखि पठाओल आखर सात।
प्रथमहिं लिखलन्हि पहिल बसंत। दोसरहिं लिखलन्हि तेसराक अन्त
लिखिनहिँ सकली अनुज बसंत। पहिलहिँ पद अछि जीवक अन्त।
भनहिँ विद्यापति अच्छर लेख। बुध जन होथि से कहथि विशेख।

४५

प्रथम एकादस दै पहुगेल । सेहो रे बिहित मोर कत दिन भेल ।
ऋतु अवतार वयस मोर भेल । तैओ नहिँ पहु मोर दरसन देल ।
अब न धरम सखि बाँचत मोर । दिन दिन मदन दुगुन सरजोर ।
चान सुरुज मोहि सहिओ न होए । चानन लाग विखम सर सोए ।
भनहिं विद्यापति गुनवंति नारि । धैरज धै रहु मिलत मुरारि ।

४६

॥ दृष्टिकूट ॥

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तह हरि बर आगी ।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहावँए हरि सरि कए उठ जागी ।
माधव हरि रहु जलधर छाई ।
हरि नयनी जनि हरि घरनी जनि हरि हे रइत दिन जाई ।
हरि भेल भार हार भेल हरि सम हरिक वचन न सोहावए ।
हरिहिं पइसि जे हरि जे नुकाएल हरि चढ़ि मोर बुझावए ।
हरिहिं वचन पुन हरि सओं दरसन सुकवि विद्यापति भाने ।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देविर माने ।

४७

॥ प्रार्थना ॥

तातल सैकत वारि विन्दुसम सुतमित रमनी समाजे ।
तोहि बिसरि मन ताहि समर्पल अब मझु होव कोन काजे ।
माधव हम परिणाम निराशा ।
तुहुँ जग तारण दीन दयामय अतए तोहर विसवासा ।
आध जनम हम नींदे गमाओल जरा शिशु कत दिन गेला ।

निधुवन रमनी रस रँग मातल तोहें भजब कोन बेला।
कत चतुरानन मरि मरि जाएत न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना।
भनए विद्यापति सेस शमन भय तुअ विनु गति नहिं आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा।

४८

जय जय भैरवि असुर भयावनि पशुपति भाविनि माया।
सहज सुमति वर दियउ गोसाउनि अनुगति गति तुअ पाया।
वासर रैनि शवासन सोभित चरन चन्द्रमनि चूड़ा।
कतउक दैत्य मारि मुँह मेलल कतउ उगिल कैल कूड़ा।
सामर वरन नयन अनुरंजित जलद योग फुल कोका।
कट कट विकट ओठ फुट पाँड़रि लिधुर फेन उठ फोका।
घन घन घनय घुघुर कत बाजय हन हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक पुत्र विसरु जनु माता।

४६

कनक भूधर शिखर वासिनि, चन्द्रिका चय चारु हासिनि,
दसन कोटि विकास, वङ्किम तुलित चन्द्रकले।
क्रुद्ध सुर रिपु बल निपातिनि, महिष शुम्भ निशुम्भ घातिनि,
भीत भक्त भयापनोदन, पाटल प्रबले।
जय देवि दुर्गे दुरित हारिणि, दुर्गमारि विमर्द कारिणि,
भक्ति नम्र सुरासुराधिप, मङ्गलायत रे।
गगन मंडल गर्भ गाहिनि, समरभूमि सुसिंह वाहिनि,
परसु पास कृपाण सायक शङ्ख चक्र धरे।
अष्ट भैरवि सङ्ग शालिनि, सुकर कृत्त कपाल मालिनि,
दनुज शोणित पिशितवर्द्धित, पारणा रभसे।

जगतवन्ध निदान मोचिनि, चन्द्र भानु कृशानु लोचनि,
जोगिनी गण गीत शोभित नृत्य भूमि रसे ।
जगति पालन जनन मारण, रूप कार्य सहस्र कारण,
हरि विरञ्चि महेश शेखर, चुम्ब्यमान पदे ।
सकल पापकला परिच्युति, सुकवि विद्यापति कृत स्तुति,
तोषिते शिवसिंह भूपति, कामना फलदे ।

५०

॥ गंगा ॥

कत सुखसार पाओल तुअ तीरे ।
छोड़इत निकट नयन बह नीरे ।
कर जोड़ि विनमओं विमल तरङ्गे ।
पुन दरसन हो पुनमति गङ्गे ।
एक अपराध छेमब मोर जानी ।
परसल माय पाअ तुअ पानी ।
कि करब जप तप जोग धेआने ।
जनम कृतारथ एकहिं सनाने ।
भनहिं विद्यापति समदओं तोही ।
अन्तकाल जनु बिसरह मोही ।

५१

॥ संस्कृत ॥

ब्रह्मकमण्डलुवाससुवासिनिसागरनागरगृहवाले ।
पातकमहिषविदारणकारणधृतकरवालवीचिमाले ।
जयगङ्गे जयगङ्गे शरणागतभयभङ्गे ।
सुरमुनिमनुजरचितपूजोचितकुसुमविचित्रिततीरे ।

त्रिनयनमौलिजटाचयचुम्बनभूतिविभूषितनीरे ।
हरिपदकमलगलितमधुसोदरपुण्यपुनीतसुरलोके ।
प्रविलसदमरपुरीपददानविधानविनासितशोके ।
सहजदयालुतया पातकिजननरकविनाशनपुण्ये ।
रुद्रसिंहनरपतिवरदायक विद्यापति कवि भणितगुणे ।

नचारी
और
महेशवानी

५२

आजु नाथ एक वर्त्त महासुख लागत हे ।
*अहाँ सिव धरु नट भेस कि डमरू बजाएब हे ।
†अहाँ जे कहैछी गौरा नाचए हम कोना नाचब हे ।
‡एक सोच मोरा होइय चारि कोना बाँचत हे ।
अमिय चुबिअ भूमि खसत बघम्बर जागत हे ।
होएत बघम्बर बाघ बसहा धरि खाएत हे ।
जटा सँ छिलकत गङ्ग[1] धार बहि जाएत हे ।

पाठान्तर—*तोहें सिब धरु नट भेष कि डमरू बजावत हे ।
†तोहें त कहैछ गौरी नाचऽ से हम कोना नाचब हे ।
‡(क) चारि सोच मोरा होइय जीव कोना बाँचत हे ।
(ख) चारि बात केर सोच कोन विधि बाँचब हे ।
(ग) एक सोच मोहि होत चारि कैसे बाँचत हे ।
इस पंक्ति के साथ कहीं-कहीं और दो पंक्तियाँ मिलती हैं—
कोन सोच तोहि नाथ कहिय समुझाविय हे ।
तीन नयन बरु आगि तहाँ के आवत हे ।
[1] भूमि पर पाटत हे ।

§होएत सहस्र मुखधार समेटलो न जाएत हे।
§§सिरसँ ससरत साँप धरनि महँ लोटत हे।
कार्त्तिक पोसल मयूर से हो धरि खाएत हे।
रुण्डमाल टुटि खसत मसान जगावत हे।
अहाँ गौरी जाएब पराय नाच के देखत हे।
भनहिं विद्यापति गाओल गाबि सुनाओल हे।
राखल गौरी के मान[1] सदाशिव नाचल हे।

विद्यापति के इस प्रसिद्ध पद के पाठों के संग्रह करने का श्रेय मेरे प्रिय छात्र और मित्र बाबू सौखीलाल झा को है

बाबू शिव नन्दन सहाय और पं० रामवृक्ष शर्मा के पाठ लगभग एक ही हैं। पं० रामवृक्ष शर्मा के पाठ की भिन्नता पाद टिप्पणी में दी जाती है—

आजु नाथ एक वर्त्त[2] माहिं सुख लागत है।
[3]तोहे सिव धरि नट बेष कि डमरू बजायब हे।
भल न कहल गउरा रउरा आजु सुनाचब हे।
सदा सोच मोहि होत कवन बिधि बाँचब हे।
जे जे सोच मोहि होत कहा समुझाएब हे।
रउरा जगत के नाथ कवन सोच लागब[4] हे।
नाग ससरि भुमि खसत[5] पुहुमि लोटायत हे।
गनपत पोसल मयूर सेहो धरि खायत हे।
अमिय[6] चुई[7] भुमि खसत बघम्बर जागत हे।
होत बघम्बर बाघ बसह धरि खायत हे।

---

§हैत सहस्रो धार §§सिर सौं ससरत नाग दहो दिसि लोटत है।
[1](क) नाच सुभ नाचल है। (ख) ई चारु नचाओल है।
२ वत्त ३ तोहें ४ लागए ५ पुहुमि ६ अमिअ ७ चुइ

टूटि खसत रुद्राछ मसान जगावत हे।
गौरी कहँ दुख होत [1]विद्यापति गावत हे।

५३

टूटले फटले मरइया अधिक सुहावन हे।
ताहि तर बैसलि गौरी मनहिं मन झाँखति हे।
माँगि चाँगि लयलाह महादेव तामा दुई धान हे।
बघछाल देलन्हि सुखाय बसहा फूजि खायल हे।
अदहन देलन्हि चढ़ाय पैंच जोहय गेलीह हे।
एहन नगर के लोग पैंच नहिं दिये हे।
अदहन देलन्हि उतारि मनहि॰मन झाँखथि हे।
घूमि फीरि अउता महादेव किए लए बुझाएब हे।
भनहिं विद्यापति गाओल गाबि सुनाओल हे।
यैह भंगिया थीका दानी जगत भरमाओल हे।

५४

शिव हो उतरब पार कओन बिधि।
लोढ़ब कुसुम तोड़ब बेल पात।
पूजब सदासिब गौरिक सात।
बसहा चढ़ल सिव फिरए मसान।
भँगिया जठर दरदो नहिं जान।
जप तप नहिं कैलहुँ नित दान।
बीत गेला तिन पन करइत आन।
भन विद्यापति सुनु हे महेस।
निरधन जानि के हरहु कलेस॥

---

[1] विद्यापति।

५५
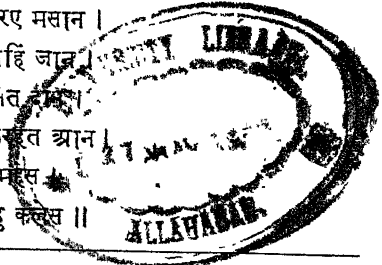
हर जनि बिसरब मोर ममिता ।
हम नर अधम परम पतिता ।
तु सम अधम उधारन दोसर, हम सन जगत नहिं पतिता ।
जम काँ द्वार जबाब कओन देब, जखन बुझत निज गुन कर बतिया ।
जब जम किंकर कोपि उठाएत तखन के होत धरहेरिया ।
भन विद्यापति सुकवि पुनित मति संकर विपरित बानी ।
असरन सरन चरन सिरनावत दया करु दिअ सुलपानी ।

५६

कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ ।
दुख ही जनम भेल दुख ही गमाइब,
सुख सपनहुँ नहिं भेल हे भोलानाथ ।
अच्छत चानन अउर गंगाजल,
बेलपात तोहि देब हे भोलानाथ ।
यहि भवसागर थाह कतहुँ नहिँ,
भैरव धरु कर आए हे भोलानाथ ।
भन विद्यापति मोर भोलानाथ गति,
देहु अभय बर मोरा हे भोलानाथ ।

५७

आगे माई एहन उमत वर लइला हेमतगिरि देखि देखि लगइछ रङ्ग
एहन उमत वर घोड़वो न चढ़इक जाहि घोड़ रङ्ग रङ्ग जंग ।
बाघछाल जे बसहा पलैनल साँपक लागल तङ्ग ।
डिमिकि डिमिकि जे डमरू बजइन खटर खटर करु अंग ।
भकर भकर जे भांग भकोसथि छटर पटर करु गाल ।
चानन सों अनुरागन थिकइन भसम चढ़ावथि अंग ।

भूत पिसाच अनेक दल साजल सिरसँ बहि गेल गंग।
भनहिं विद्यापति सुनिए मनाइन थिकाह दिगम्बर भंग।

५८

॥ रास वर्णन ॥

वाजत द्रिगि द्रिगि धोद्रिम द्रिमिया नटति कलावति माति श्याम संग
कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया ॥

डग मग डम्फ डिमिकि डिमि मादल रुनु झुनु मञ्जीर बोल।
किंकिनि रण रणि वलया कन कनि निधुबने रास तुमुल उतरोल।
वीणरवाव मुरज स्वरमण्डल सा रि ग म प ध नि सा बहुबिध भाव।
घेटिता घेटिता धुनि मृदङ्ग गरजनि चञ्चल स्वर मंडल करु राव।
स्रमभर गलित लुलित कवरीयुत मालति माल बिथारल मोति।
समय बसन्त रास रस वर्णन विद्यापति मति छोभित होति।

५९

व्यक्तिगत

और

ऐतिहासिक

शिव सिंह का सिंहासनारोहण।

३ ९ २ ४ २ ३ १

अनल रन्ध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ बार वेहप्पए जाउ लसी।
देव सिंह जं पुहवी छड्डिअ अद्धासन सुरराए सरु।
दुहु सुरुतान नींद अब सोअउ, तपन हीन जग तिमिर भरु।

देखहु ओ पृथिमी के राजा, पौरुस माभ पुन्न बलिओ ।
सतवले गङ्गा मिलित कलेवर, देवसिंह :सुरपुर चलिओ ।
एकदिस सकल जवन बल चलिओ, ओका दिस से जमराए चरु ।
दूअओ दलटि मनोरथ पूरेओ, गरुअ दाप सिव सिंह करु ।
सुरतरु कुसुम घालि दिस पूरेओ, दुन्दुहि सुन्दर साद धरु ।
वीर छत्र देखन को कारन, सुरगन साते गगन भरु ।
आरम्भिअ अन्तेट्ठि महामख, राजसूय असमेध कहाँ ।
पण्डित घर आचार बखानिअ, जाचक काँ घर दान जहाँ ।
विज्जावइ कविवर एहु गावए, मानव मन आनन्द भएओ ।
सिंहासन सिव सिंह बइट्ठो उच्छवै बैरस बिसरि गएओ ।

६०

शिव सिंह का युद्ध ।

दूर दुग्गम दमसि भञ्जेओ, गाढ़ गाढ़ गूढ़ीअ गञ्जेओ ।
पातिसाह ससोम सीमा, समर दरसेओ रे ।
ढोल तरल निहान सद्दहि, भेरि काहल संख नद्दहि ।
तीनि भुअन निकेत, केतकि सान भरिओ रे ।
कोह नीर पयान चलिओ, वायु मध्ये राय गरुओ ।
तरनि तेअ तुलाधरा, परताप गहिओ रे ।
मेरु कनक सुमेरु कम्पिय, धरनि पूरिय गगन झम्पिय,
हाति तुरअ पदाति पअभर कमन सहिओ रे ।
तरल तर तरिवारि रङ्गे, विज्जुदाम छटा तरङ्गे
घोर घन संघात बारिस काल दरसेओ रे ।
तुरअ कोटिअ चाप चूरिअ, चार दिस चौ विदिस पूरिअ
विसम सार असार धारा धरनि भरिओ रे ।

अन्ध कूअ कबन्ध लाइअ फेरवी फफ्फरिअ गाइअ ।
सहिर मत्त परेत भूत बेताल बिछलिओ रे ।
पारमइ परिपन्थि गञ्जिअ, भूमि मण्डल मुण्ड मण्डिअ
चारु चन्द कलेव कीत्ति सुकेतकि तुलिओ रे ।
रामरूप स्वधम्म रक्खिअ, दान दप्प दधीचि बक्खिअ
सुकवि नव जयदेव भनिओ रे ।
देवसिंह नरेन्द्र नन्दन शत्रु नरवइ कुल निकन्दन
सिंह सम सिव सिंह राया सकल गुनक निधान गनिओ रे ।

६१

उगना हे मोर कतय गेला। कतय गेला शिव कि दहुँ भेला ।
भाँग नहिँ बटुआ रूसि वैसलाह । जोहि हेरि आनि देल हसि उठलाह ।
जे मोर कहता उगना उदेस । ताहि देब कर कँगना वेस ।
नन्दन बन में भेंटल महेस । गौरी मन हरसित मेटल कलेस ।
विद्यापति भन उगना सँ काज । नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज ।

६२

सपन देखल हम सिव सिंह भूप । बतिस बरस पर सामर रूप ।
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन । आब भेलहुँ हम आयु बिहीन ।
समटु समटु निअ लोचन नीर । ककरहु काल न राखथि थीर ।
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव । त्यागक करुणा रसक स्वभाव ।

६३

दुल्लहि तोहर कतय छथि माय । कहू न आबथु एखन नहाय ।
वृथा बुझथु संसार बिलास । पल पल नाना तरहक त्रास ।
माय बाप जों सदगति पाव । सन्तति काँ अनुपम सुख आव ।
विद्यापतिक आयु अवसान । कातिक धवल त्रयोदसि जान ।

॥ पद टिप्पणियाँ ॥

१ कि—क्या। छलहुँ—था। होएब—होऊँगा। जानए—जानता है। अहाँ—आप। दुरजसिया—दुर्यशवाले, बदनाम। वनितामनि—स्त्रियों में मणि के समान। ससिया—चन्द्रमा।

२ चिकुर—केस। तिमिर''अकारा—फैले हुए घने और काले बालों के नीचे आँसू की धारा सघन बादल पर बिजली की रेखा के समान मालूम होती है। डग''तारा—सघन बादल के बीच झिलमिलाते हुए तारे के समान हिलते हुए मोती के दाने।

३ यह स्वप्न का वर्णन है। स्वप्न की व्याख्या विचारधारा में देखिये। धनि—सौभाग्यवती। समय—समय पाय तरुवर फरे केतक सींचो नीर।

४ कतेक—कितना। विह—विधि, ब्रह्मा। समारल—सँवारा, सजाया। सरूपे—स्वरूप, सुन्दरता। देखलि नैन सरूपे—उस सौन्दर्य्य को मैंने अपनी आँखों देखा। पल्लवराज—कमल। भाने—मालूम होता है। कनक कदली—जंघा। सिंह—कटि। मेरु—पर्वत, वक्षस्थल। कमल—पयोधर। मनिमय''सुखाई—मणिमय हार उज्ज्वल गङ्गा की धारा के समान पड़ा हुआ है। उसी धारा से सम्पर्क होने के कारण ये कमल नहीं सूखते। अधर''गरासे—अधर विम्ब फल के समान, दाँत अनार के बीज के ऐसा। दसन—दाँत। दाडिम—अनार। बीजु—बीज। रवि—सूर्य्य, सिन्दूर विन्दु। ससि—मुख। उगथि—उगते हैं। राहु—केश। निअरो—निकट। तइँ—इसलिये। राहु''गरासे—राहु (पीठ पर पड़ा हुआ केश) दूर है, इसलिये सूर्य और चन्द्रमा का ग्रास नहीं कर सकता। सारंग—हरिण, कोकिल, कामदेव, पद्म (ललाट), भ्रमर (चूर्णकुन्तल)। सारंग''मधुपाने—

उसका कण्ठस्वर कोकिल के समान और नयन हरिण के समान है। उस नयन के सन्धान (समधाने) में कामदेव का वास है। ललाटपद्म के ऊपर दश भ्रमर (चूर्णकुन्तल) क्रीड़ा और मधुपान करते हैं। **वर**—श्रेष्ठ। **जौनति**—[illegible]। **एहन**—ऐसा।

५ **सओं**—से। **एकहिं नगर**—शरीर। **बटमारी**—डाका। **उघारी**—निवस्त्र। **सङ्कक**—सङ्ग की। **क**—का के की सम्बन्ध कारक के चिन्ह। **एकसर**—एकाकिनी। **तुलाएल**—तैयार हो गई, परिव्याप्त हो गई। **दामिनि...अन्हारी**—एक तो रात योंही अन्धेरी है, उसमें भी बिजली चमक रही है।

६ **गुञ्जरि**—(१) चतुर स्त्री (२) गूंज-गूंज कर।

७ **सेहे लए**—इसीलिये। **थिक**—है। **अंगिरिअ**—अङ्गीकार। **जे...उदास**—जिसे अङ्गीकार करना चाहिये उसकी ओर से उदासीन नहीं होना चाहिये। **ठाम**—स्थान। **भल...ठाम**—भला या बुरा परिणाम समझकर (कार्य) करना चाहिये, यश और अपयश दोनों (इसी) स्थान (संसार) में रह जाते हैं। **आइति**—सं० आयतिः, उत्तरकाल, आने वाला समय। **आइति...विवेक**—समय पड़ने पर विवेक की परीक्षा होती है।

८ **अहीर**—ग्वाला, चञ्चल मन। **जीवइते**—जीता। **लो**—हे, रे इत्यादि की तरह सम्बोधनसूचक शब्द। मिथिला के उत्तर स्त्री और पुरुष दोनों ही व्यवहार करते हैं (न० गु०)। **खेव**—खेवा। **लेअए**—लेता है। **मोले**—मूल्य। **की दहु**—क्या तो, अनाप-सनाप। **कके**—क्यों। **बिके**—बेचने। **ऐलिहुँ**—मैं आई। **बेढ़लिहुँ**—वेष्ठन किया। **गोआरी**—गँवार, ग्वालिन। **नरकान्हे**—मनुष्यों में कृष्ण (देवता) के समान। महती देवता राजा नर रूपेण तिष्ठति। मनुः।

९ **पहु**—प्रभु। **पाँचो बान**—कामदेव के बाण, भावोद्रेक। **परकार**-

उपाय। **भनहिं···परमान**—विद्यापति कहते हैं कि पुरुष (परमेश्वर) उचित कार्य करते हैं।

१० **हुन**—उन। ११ **तनि**—उनके, ज़रा। **देथु**—दें। **रूप**—सत्य।

१२ **सनेस**—उपहार। **वनहिं**—मथुरा में बारह तीर्थवन हैं—मधुवन, तालवन, कुमुदवन, काम्यकवन, बहुलवन, भद्रवन, भूमावन, महावन, महापातकनाशवन, विल्ववन, भाण्डीरवन। **नोर**—लोर, अश्रु। **एकहिं नगर**—शरीर। **पहु...सारा**—(१) जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ तारे रहते हैं उसी प्रकार प्रभु के साथ बहुत सी सौभाग्यवती स्त्रियाँ हैं। विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरि अपने हृदय में सार (तत्वज्ञान) को धारण करो। साहेब तुम जनि बीसरो लाख लोग लगि जाहिं। हमसे तुमरे बहुत हैं तुम सम हमरे नाहिं (कबीर)। (२) प्रभु के साथ (रहने से) कामिनी परम सौभाग्यवती होती है, जिस प्रकार चन्द्र के निकट तारा।

१३ **फेधाएल**—सं० प्रधावित, धावमान। **अरुझाएल**—उलझा। **लोचन···रे**—आँखें दौड़ जाती हैं, बार-बार दौड़ती फिरती हैं, हरि को ढूँढ़ती हैं, पर हरि नहीं आये। शिव ! शिव !! प्राण भी नहीं निकलता। केवल आशा में उलझा हुआ अटका है। **प्रेम परसमनि**—प्रेम का स्पर्शमणि, पारस पत्थर; जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श से कुधातु भी सोना हो जाता है उसी प्रकार हरि के स्पर्श से हृदय प्रेममय हो जाता है। पाये राम नाम चिन्तामनि उर करते न खसैहौं (तुलसी)। **विघटाओल**—विघटित, भङ्ग कर दिया। **देखिये**—स्वप्नेऽपि स न सहते सङ्गमं नो कृतान्तः (मेघदूत)। **बालमु**—बल्लभ।

१४ **सखि अनकर···पतिआय**—हॉरी मैं तो दरद दिवाणी मेरा दरद ण जाणै कोय (मीरा)। **अपनो मन गेल**—उनका अपना मन

परवश हो गया। इस पद की द्वितीय पंक्ति में 'साओन' अन्तिम में 'कातिक' मास का नाम आया है। मेघदूत में भी श्रावण से कार्तिक तक के कठिन विरह का वर्णन किया गया है।

१५ **तोहें···काज**—आप जल के आधार हैं, आप के जल का भण्डार बहुत बड़ा है, किन्तु मैं एक तुच्छ चातक हूँ। मेरा काम एकही बूँद से हो जायगा। **वैभव···एक**—विभव के नष्ट हो जाने पर भी विवेक को स्थिर रखने वाले पुरुष लाख में कोई एक होते हैं। **भनइ···जे**—विद्यापति कहते हैं कि वही दूती है जो दोनों के मन को मिलादे। कहना नहीं होगा कि 'दूती' से सद्गुरु अपेक्षित है।

१६ **सिम**—सीमा। **जुगल···देखल**—दो पर्वत की सीमा पर (पयोधर के निकट) चन्द्रमा (मुख) देखा। **एक कमल**—मुख। **दुई जोति**—दोनों नेत्र। **मधुर फुल**—बन्धूक पुष्प। **सिन्दुर**—लाल रंग। **फुलल···गजमोतिरे**—पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्। ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुचस्मितस्य (कुमारसम्भव)। **विपरित··भूप रे**—विपरीत कनक कदली (उरुद्वय) के नीचे थल कमल की शोभा है उसमें मनोहर बाजा (नूपुर) बजता है मानो संसार में कामदेव भूप का विजयवाद्य बजता हो।

१७ **सनि—ऐसा तापरि · पसारि**—उसके ऊपर भ्रमर पंख फैलाकर बैठा हुआ रसपान कर रहा है। केशों के ऊपर हवा में उड़ता हुआ चूर्णकुन्तल उड़ते हुए भौंरे के ऐसा मालूम होता है।

१८ **अपरूप**—अपूर्व। **कमल जुगल**—चरण। **चाँदक माल**—नखपंक्ति। **तरुण तमाल**—जंघा। **बेढ़ल**—लिपटा हुआ। **बिजुलि-लता**—पीले रंग की मेखला। **शाखा**—हाथ। **शिखर**—अग्रभाग। **शाखा शिखर**—अङ्गुलि। **सुधाकर पांति**—नखपंक्ति। **पालब**—

पल्लव, करतल। **अरुनक भाँति**—लालिमा की तरह। **बिम्बफल**—ओष्ठ। **कीर**—नासिका। **खञ्जन जोड़**—दोनों आँखें। **सापिनि**—जूड़ा, बालों की लटें। **तापर...मोड़**—घुमा घुमा कर बालों की लटें बाँधी गई हैं। **कहल निसान**—सङ्केतमात्र से हमने कह दिया। **पुन···गेआन**—फिर जब हमने देखा तो मैं ज्ञानशून्य हो गई। यह 'अकथ कहानी' का एक रूप है।

१६ **रेह**—रेखा। २० **रति साति**—प्रेम में विघ्न बाधा। २१ **अदकँहि**—आतङ्क से, हठात्। २२ **कत मधु जामिनि···केल**—डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो। (तुलसी)॥ इस पद की अन्तिम पंक्तियों में सन्तमत का सिद्धान्त है।

२३ **तक···पठाव**—प्रिय को मैं हृदय से कभी न जाने दूँगी।

२४ **नकत**—नक्षत्र, तारे। **अबेकत**—अव्यक्त, अदृश्य; अविगत (कबीर, सूर, तुलसी)। **कय**—करके। २५ **देखि···पासे**—घरकी दीवाल पर बड़े साँप के चित्र देख कर जिसको बड़ा भय होता था वह साँप के मणि को हाथ से छिपाती हुई (क्योंकि मणि के प्रकाश में किसी के देख लेने का भय था) हँसती-हँसती वह आप के पास चली आई। **बिनोदक**—विनोद का। **विन्दक**—ज्ञाता। **ई रस···न करावे**—इस रस का रसिक और इसके आनन्द को समझनेवाला कवि विद्यापति गाता है कि काम (हृदय विकार) और प्रेम (ईश्वर प्रेम वा भक्ति) यदि एक हो जायँ, अर्थात् वासना पारिमार्जित होकर यदि विश्वप्रेम के रूप में परिणत हो जाय तो इससे क्या नहीं हो सकता है।

२६ **निविल**—निविड़, घन। **कुसुम...देह**—कुसुमवाण के विलास कानन केशों में सिन्दूर की सुन्दर रेखा ऐसी मालूम होती है मानो घने बादल में अरुण (प्रभात काल की लालिमा का देवता) अपना

शरीर दिखलाता हो। विहलि—विहरि, विहार कर रही है। विहि-संसार—ब्रह्मा के संसार में। जोख—जोड़। स्फुटकमलोदरखेलित-खञ्जनयुगमिव शरदि तडागम् (जयदेव)। पसाहि—फैला कर, पसार कर।

२७ माधव...वेढ़लि—माधव, मैंने एक सुन्दरी स्त्री को जाते देखा। अरुण (सिन्दूर का स्थान) मानों ताराओं (मुक्ताओं) से घिरा हुआ है और बाल चामर के समान हैं। मुक्ताजालग्रथितमलकम् (मेघदूत)। जलनिधि सुत—चन्द्रमा। सोहाओन—सुन्दर। सिखर—अनार। फड़ल—फल लगा। सिरीफल—श्रीफल, बेल। अजेआ—अजा, बकरी। अजेआ सुत रिपु—दुर्गा। वाहन—सिंह। जेहन—जैसा। राही—सुन्दरी (राधा)। सागर—सात। गरह—ग्रह ९। खगपति—तारापति, चन्द्रमा। तनय—मोती। तासि रिपु—हंस, सूर्य। तनया—यमुना। हरवाहन...भाने—कवि विद्यापति कहते हैं कि उन्होंने (कृष्ण ने) वृषभ की तरह आँखें फाड़-फाड़कर ढूँढा और निर्निमेष नयनों से देखा।

२८ भेम—एक प्रकार का कीड़ा। निदान—अन्त। २९ हुनक—उनका। भनहि...राम—विद्यापति कवि कहते हैं कि राम की जय हो। जब दैव बिगड़ गया है तो स्वामी क्या करेंगे।

३० झामरु—मलिन। काहे—किसको। झटझारी—शीघ्रता पूर्वक।

३१ कानन कान्ह—कृष्ण जंगल में हैं। भै...आने—मैं कुछ का कुछ हो गई। हेरइति—उन्हें ढूँढते समय। कि गेआने—उनकी बुद्धि के विषय में मैं क्या कहूँ। सात—सात अक्षर 'बिख खाय मरब'। पाँच—पाँच अक्षर 'नहिं आएब'। यदि आप न आवेंगे तो विष खाकर मर जाऊँगी। पाँच—नहिं आएब। दुई—नहिं। उन्होंने कहा 'आएब' आऊँगा।

चान आँग—चन्द्रमा के समान शरीर। **दापे**—उत्ताप। **विखधर**—सर्प (केश)। **धारै...साँपे**—उस साँप ने इसे (ओष्ठ को) पकड़ना चाहा। **जामिनि जिव दय गेली**—रात्रि गई किन्तु जीवन देती गई। या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

३२ **कारि**—कृष्ण भ्रमर। **लगेनी**—लगा हुआ है। ३३ **साँठल**—सजाया। **मानिक...सूती**—मैं एक मानिक यहाँ हूँ, और वहाँ बहुत से मानिक बिखरे हुए हैं। प्रभु वहाँ ही सोए। **कुंभकरण सम दाये**—इसका अर्थ ग्रियर्सन करते हैं—and pressed her to his heart with the strength of Kumbhakarana, इसके पूर्व 'दाप' का व्यवहार उत्ताप के अर्थ में हुआ है। ग्रियर्सन के अर्थ में अनुमान से काम लिया गया है। जब तक ऐसी और पंक्तियाँ नहीं मिलें तब तक इसका ठीक अर्थ जानना कठिन है।

३४ **बिखिन**—विषएण, उदास। **अछि**—है। ३५ **पोहायनु**—बिताया। यह पद आत्मबोध का सुन्दर वर्णन है। इसके साथ दादू का "सूरज नहिं तहँ सूरज देखा" पद पढ़ने से पूरा आनन्द आता है।

३६ **बास**—वासगृह। कमलिनि ने भ्रमर को अपने मुख का मधु पिला कर संध्याकाल में ही उसे छिपा रक्खा। परिमल शय्या हुआ, फूल बासगृह बना, मधुकर ने मधुपान कर कमल में शयन किया। भ्रमरी घूम-घूम कर अपने पति को ढूंढ़ती है और कहती है "कहाँ मेरा भ्रमर भूखा प्यासा (उपास) पड़ रहा। फूल यह कहता ही नहीं (कि भ्रमर कहाँ है), सूर्य उदय नहीं हो रहा है। सूर्योदय होने से कमलिनी विकसित होगी और भ्रमर को छिपाकर नहीं रख सकेगी। प्रेम के मारे (वियोग में भी) मेरा प्राण नहीं निकलता। सखि मेरे पति की बात कोई नहीं कहता। रात में भेंट होती पर प्रभात हो गया। विद्यापति कहते हैं कि

ऐ भ्रमरी सुन, तुम्हारे बल्लभ तुम्हारे ही शहर में हैं। पुहुप मध्य जिमि बास बसत हैं मुकुर माँझ जस छाई। तैसेइ हरि बसैं निरन्तर घटही खोजहु जाई (नानक)। नगरी शरीर। ऐसी कोमल और सुन्दर कल्पना हिन्दी साहित्य में कहीं नहीं मिलती। ऐसा भाव शेक्सपीयर के मिड्समरनाइट्स ड्रीम में पाया जाता है।

३७ **ससन**—श्वसन, वायु। **रेह**—रेखा। **बिगसित...चन्द**—सामने ही मुखचन्द्र न मालूम क्यों मुरझाया हुआ है।

३८ **कुलिश**—वज्र। **कत**—कितना। **सत**—सौ।

३९ **पटोर**—पट्ट, वस्त्र, रेशमी साड़ी। **गिम**—ग्रीवा। **खोंन्छा**—खोछा, आँचर। **कपुरु**—कर्पूर। **तँबोर**—ताम्बूल। बसन्त के उल्लास का यह अपूर्व वर्णन है। चन्दवरदाई ने बसन्त का बहुत ही सुन्दर वर्णन इसी छन्द में किया है—

आगम वसन्त तरु पत्र डार। उठि किसल नइअ रँग रत्तधार।
अंकुरित पत्र गद्दरति डार। लह लहत जंग अट्ठार भार।
मधु पुंज गुंज कमलनि अधीन। जनु काम कोक संगीत कीन।
तरु तरनि कूकि कोकिल समार। बिरहिनी दीन दम्पति अधार।

चन्द के पद में बाह्य प्रकृति का वर्णन है, पर विद्यापति ने हृदय के उल्लास का ही नहीं वसन्त के उन्माद का भी वर्णन किया है।

४० **साहर**—सहकार, आम। **मअन**—मदन। ४१ **कवि कण्ठ-हार**—विद्यापति की उपाधि। ४२ **साद**—शब्द करता है। **निकारुण**—निर्दय। **उदन्त**—वृतान्त। ४३ **अनमिख**—अनिमेष। ४४ फूल से भरे हुए कानन निकुञ्ज में बैठ कर राधा ने आँखों के काजल की रोशनाई बनाई और नख द्वारा कमलिनी के पत्ते पर सात अक्षर लिखकर माधव को भेजे। पहले उन्होंने लिखा पहला वसन्त। (वसन्त का पहला मास है चैत्र और चैत्र का दूसरा नाम है 'मधु'। पहले उन्होंने 'मधु' इन दो अक्षरों

को लिखा।) द्वितीय (उसके बाद) उन्होंने तृतीय का अन्त लिखा (वसन्त के बाद तृतीय ऋतु वर्षा है। वर्षा का अन्त हस्त नक्षत्र है। हस्त का अर्थ कर होता है। 'मधु' के बाद उसने 'कर' लिखा। सम्पूर्ण हुआ 'मधुकर'।) वसन्त का अनुज नहीं लिख सकी। (चैत्र के बाद बैसाख होता है। बैसाख का दूसरा नाम माधव है। लज्जा से हो या माधव का अर्थ लक्ष्मीपति होने के कारण ईर्ष्या से हो, वे माधव न लिख सकीं) प्रथम पद (अक्षर) में ही जीवन का अन्त है। (राधा ने सात अक्षर लिखे—मधुकर आयाहिं; मि० मधुकर आवैछी ? माधव नाम नहीं लिख सकने के कारण उन्होंने 'मधुकर' लिखा)। ४५ प्रथम अक्षर —क। एकादश – ट=कट–प्रतिज्ञा, वचन। ऋतु—६। अवतार— १०। ऋतु अवतार—१६। सोलह वर्ष की उमर हुई।

तातल—तप्त, गर्म। **सैकत**—बालू। **अतए**—इसलिये। ४८ **पाँडरि**—पाटलवर्ण, लाल। **लिधुर**—रुधिर। **काता**—खाँड़ा, खड्ग। ५० **सनाने**—स्नान करने से। **समदउँ**—प्रार्थना पूर्वक कहना-सुनना।

५८ रास के इस वर्णन के साथ दादू का यह पद पढ़िये—

घटि घटि गोपी घटि घटि कान। घटि घटि राम अमर अस्थान।
गंगा जमुना अंतर वेद। सुर सती नीर बहइ परसेद।
कुंज केलि तहाँ परम बिलास। सब के संग मिलि खेलइ रास॥
तहाँ त्रिन बेना बाजइ तूर। बिगसइ कवँल चंद अरु सूर॥
पूरन ब्रह्म परम परकास। तहाँ निज देखइ दादू दास॥

५९ **लक्खन नरवए**—लक्ष्मण नरवर, राजा लक्ष्मणसेन।
अनल३ रन्ध्र९ कर२—लछमनसेन संवत २९३।

सक—शकाब्द। समुद्र४ कर२ अगिनि३ससी१—१३२४। **जाउ-लसी**—जाते समय, अर्थात् संध्या समय। **अद्धासन सुर राए सरु**—सुरराज का अर्द्धासन प्राप्त किया। दोनों सुल्तान अब नींद से सोवें। सूर्यहीन

संसार अब अंधकार से भर जाय। हे पृथ्वी के राजगण पौरुष के साथ पुण्यबल का दर्शन कीजिये। सत्यबल से अपना शरीर गंगा में डालकर देवसिंह सुरपुर चले। एक ओर यवनों की सम्पूर्ण सेना चल पड़ी, दूसरी ओर से यमराज (की सेना) चली। अपने प्रबल प्रताप से शिवसिंह ने दोनों की इच्छा पूर्ण की। (यवनों को पराजित किया है और पिता को गंगातीर ले जाकर उनका यम भय छुड़ाया।) कल्पवृक्ष से पुष्पवृष्टि हुई जिससे दिशाएँ भर गईं और सुन्दर दुँदुभि का शब्द हुआ। वीर शिरोमणि को देखने के लिये आये हुए देवताओं से आकाश भर गया। प्रथम अन्त्येष्ठि महायज्ञ के सामने राजसूय और अश्वमेध की क्या तुलना है। पंडितों के घर में उस यज्ञ के आचार की और याचकों के घर में दान की प्रशंसा होने लगी। विद्यापति कवि गाते हैं कि मनुष्यों का मन आनंद से भर गया। शिव सिंह सिंहासन पर बैठे। उस उत्सव में सभी विषाद को भूल गए।

६० **दुग्गम**—दुर्गम। **दमसि**—उमंग से। **गूढ़िअ**—कठिन। **गञ्जेउ**—दुर्दशा कर दी। **पातिसाह...रे**—बादशाह की सीमाभूमि तक युद्ध दिखाई पड़ा। **निसान**—निःस्वन, मारूबाजा। **काहल**—विजयघंट, तासा। **नद्दहि**—नर्दहिं, शब्द करते हैं। **तीन तीन...भरिओ रे**—त्रिभुवन रूपी भवन केतकी के समान (सौरभ से) भर गया। **कोट**—कुश, पर्वत। **कोह......गहिओरे**—पर्वत से जिस प्रकार जल की धारा बहती है, वायुमण्डल में जिस वेग से पक्षिराज चलते हैं, सूर्य के समान प्रताप धारण शिवसिंह ने उसी प्रकार प्रयाण (सैन्य यात्रा) किया। स्वर्णगिरि सुमेरु काँपने लगा, धरती भर गई, आकाश भर गया। हाथी, घोड़े और पदाति के पदभार को कौन सह सकेगा? तलवार की चमक में बिजली की छटा बल खाने लगी, घनघोर वर्षाकाल में बादल की कड़क का दृश्य दिखाई पड़ने लगा। करोड़ों घोड़े के टाप से धरती चूर हो गई। चारों दिशाएँ और विदिशाएँ पूर्ण हो गईं। भय-

ङ्कर बाणों की धारावृष्टि से पृथ्वी भर गई। कबंध अंधकूप में फेंका गया, शृगाल फेओं-फेओं शब्द करने लगा। रुधिर से मत्त प्रेत, भूत, बेताल फिसल कर गिरने लगे। (समराङ्गण को) पारकर शत्रुओं का नाश किया, भूमण्डल को मुण्ड से भर दिया। इनकी कीर्ति की तुलना सुन्दर केतकी के सौरभ से और चारु चन्द्रकला से होने लगी। सुकवि नव जयदेव —विस्फी ग्राम के दानपत्र में विद्यापति की अभिनव जयदेव उपाधि है।

६१ कहा जाता है कि शङ्कर ने प्रसन्न होकर विद्यापति को वर दिया था कि मैं सर्वदा तुम्हारे पास रहूँगा। वे उगना नामक नौकर के रूप में उनके साथ रहने लगे। शंकर ने विद्यापति से कहा था कि मैं तभी तक तुम्हारे साथ रहूँगा जब तक तुम मेरा परिचय किसी को न दोगे। एक दिन किसी कारण से विद्यापति की स्त्री उगना से नाराज हो गई और लकड़ी का मोढ़ा उठाकर उसे फेंक मारा। विद्यापति सब देख रहे थे। उनके ऊपर प्रहार होते देख कर बोले "हाँ! हाँ! यह क्या! साक्षात् शिव के अंग में प्रहार"···पूरा वाक्य उनके मुख से निकला भी न था कि शिव अदृश्य हो गये। उस समय विकल होकर कवि ने इस पद की रचना की।

६२ विद्यापति ने यह स्वप्न देखा था।

६३ कहा जाता है कि विद्यापति ने अपने मृत्युकाल में इसकी रचना की थी। दुल्लहि उनकी लड़की का नाम था। कवि कहते हैं— दुल्लहि, तुम्हारी माँ कहाँ हैं। उनसे कहो जल्दी स्नान कर आवें। संसार को मिथ्या समझें। पल-पल पर इसमें नाना प्रकार का भय देखा जाता है। मालूम होता है इतना सुनते ही दुल्लहि उनका अंत काल समझ कर रोने लगी। उसको समझाने के लिये कवि फिर कहते हैं— माता-पिता की यदि सद्गति हो तो संतान को सुख मानना चाहिए।

कार्त्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति का देहावसान हुआ।

अकारादि क्रम से पदों की सूची

पंक्तियों के साथ लगी हुई संख्यायें पदों की हैं।